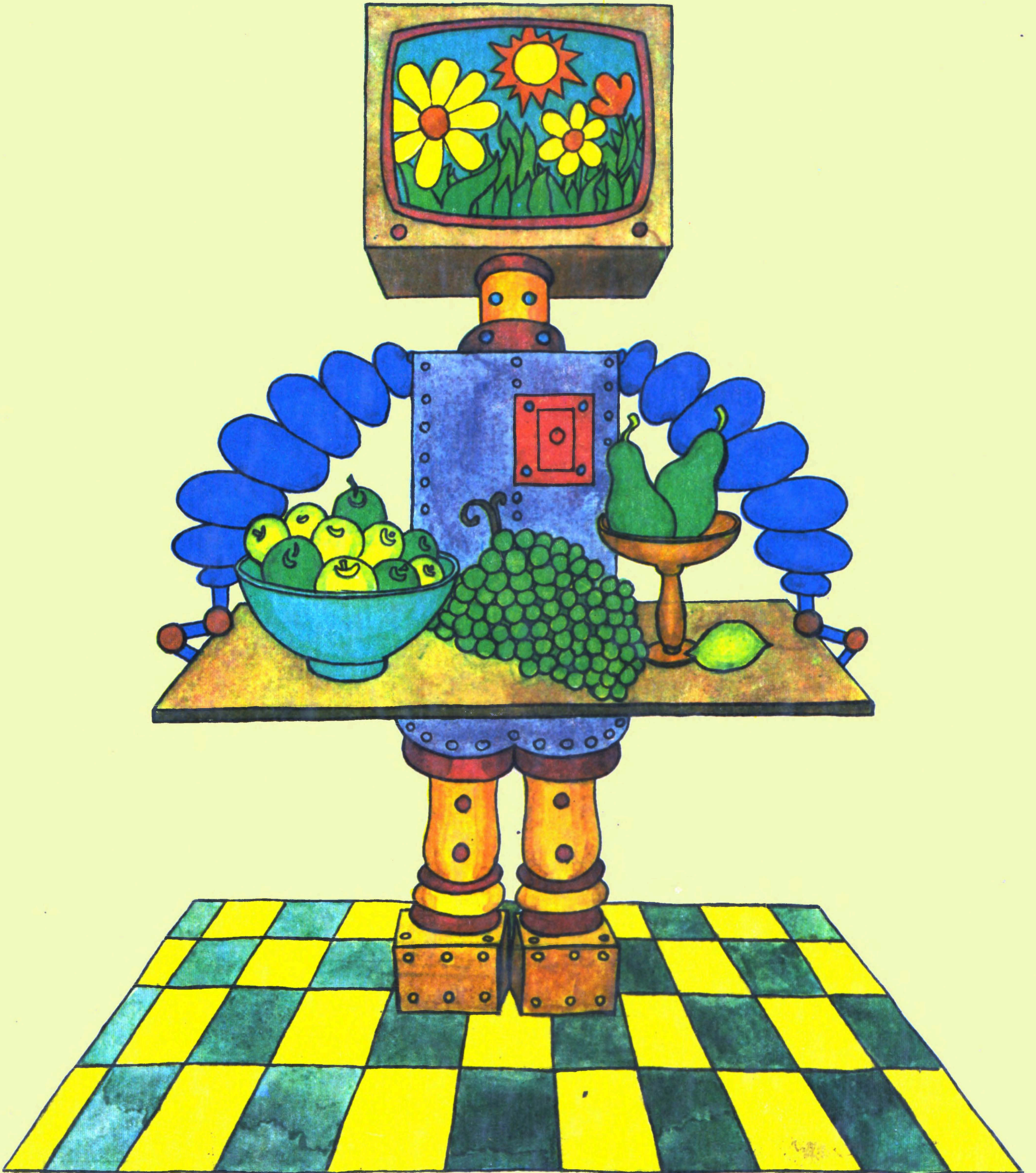
अलेक्सेई क्रिलोव

अलाव से रिएक्टर तक











रादुगा प्रकाशन
मास्को



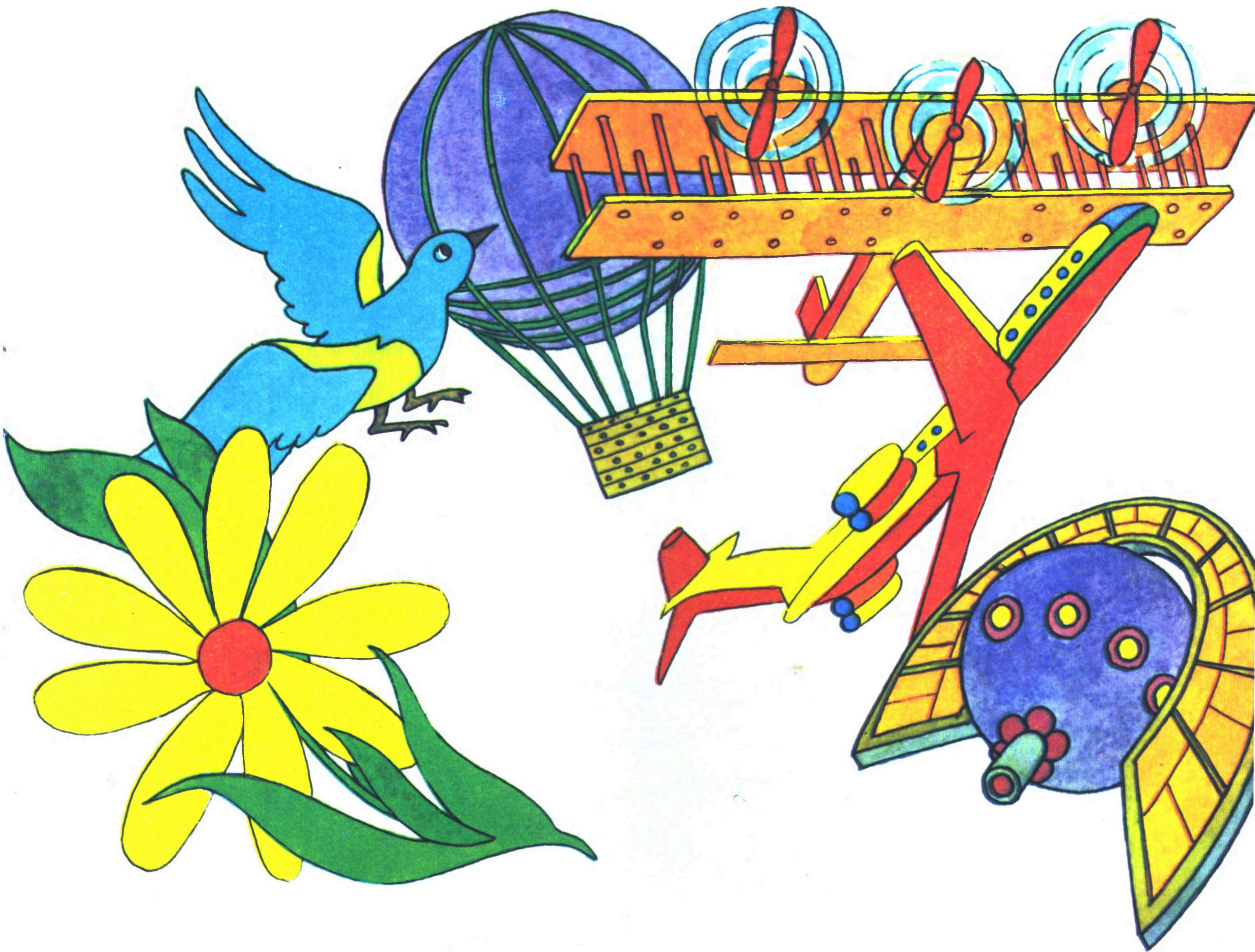
पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड
५ ई, रानी झांसी रोड, नई दिल्ली-११००५५

हवाई जहाज़ क्यों उड़ते हैं ?
मोटरगाड़ी और इंजन को क्या चीज़ चलाती है ?
हमारे घरों और कारख़ानों में बिजली किसलिए आती है ?
लोग खाना किसलिए खाते हैं ? कभी सोचा है तुमने इस सबका कारण क्या है ?

अलेक्सेई क्रिलोव

अलाव से रिएक्टर तक

अनुवादक – योगेन्द्र नागपाल
चित्रकार – प्लतोनोव



А. Крылов

ОТ КОСТРА ДО РЕАКТОРА

на языке хинди

A. Krylov

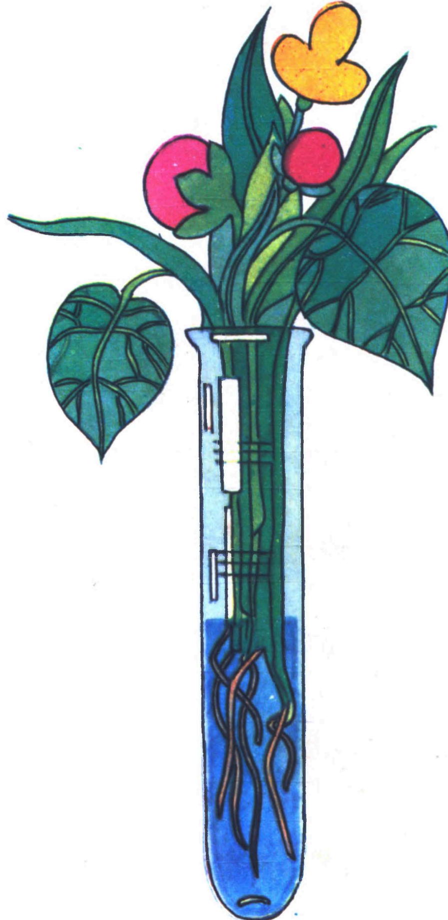
FROM BONFIRE TO REACTOR

in Hindi

सोवियत संघ में मुद्रित

К $\frac{4803010102-319}{031(01)-83}$ 386-83

अनुक्रम





Al
Fe_2O_3
H_2S
H_2O
SO_2
C_6H_{14}
O
H_2SO_4


H
Cu
Si

अदृश्य शक्ति

तुमने कभी यह देखा है कि मकान कैसे बनाया जाता है ? ईंटें और कंकरीट के ब्लाक लेते हैं, उन्हें उठाते हैं, मिलाते हैं और आवश्यक स्थान पर चिन देते हैं।

ईंटें भी और मकान भी लोग बनाते हैं। तरह-तरह की मशीनें, जैसे कंकरीट मिलाने की, उसे ढोने की, उठाने की मशीनें, क्रेनें आदि ये सारी की सारी मशीनें लोगों की मदद करती हैं।

लोगों को और मशीनों को भी काम करने के लिए – भार उठाने, ढोने, लादने, ढकेलने के लिए शक्ति चाहिए । और काफ़ी शक्ति चाहिए।

मनुष्य में शक्ति कहां से आती है ? अब यह बात तो तुम जानते ही होगे, जन्म से ही मां से, दादी से सुनते आये होगे : "खाना नहीं खाओगे, तो शरीर में ताक़त कहां से आयेगी ?" यह बात सोलह आने सच है। खाने के साथ ही आदमी ताक़त पाता है, शक्ति पाता है। और हां, खाने के साथ ही एक तरह से "ईंटें" भी पाता है, वह "निर्माण सामग्री" पाता है, जिससे वह बना हुआ है।

अच्छा तो मशीनों को बल कहां से मिलता है ? उनका "आहार" क्या है ? तुम शायद जानते ही होगे : खनिज तेल, गैस, पेट्रोल, पत्थर का कोयला, दलदली कोयला, मिट्टी का तेल, बिजली – यही सब मशीनों का "खाना" है।

पर तुम कहोगे : "यह क्या बात हुई – कहां तो हमारी स्वादिष्ट रोटी, दूध, मक्खन और कहां काला खनिज तेल या बिजली ! इनमें ऐसी क्या एक सी बात है, जो आप इन सबको "खाना" ही कह रहे हैं ?" पहली नज़र में लगता है कि इनमें कुछ भी एक सा नहीं है, लेकिन अगर सोचा जाये तो बहुत कुछ एक जैसा है।

रोटी, मक्खन और दूध भी तथा पेट्रोल, गैस और बिजली भी शक्ति देते हैं।

इस अदृश्य शक्ति को **ऊर्जा** कहते हैं। ऊर्जा सभी को और सर्वत्र चाहिए, चाहे इंजन बनाना और चलाना हो, चाहे पैंट-क़मीज़ सीनी हो, चाहे राकेट उड़ाना हो या किताब पढ़नी हो – हर काम के लिए ऊर्जा चाहिए। रगों में ख़ून बहे, शरीर हृष्ट-पुष्ट हो, दिमाग़ ठीक से काम करे – इसके लिए भी ऊर्जा चाहिए।

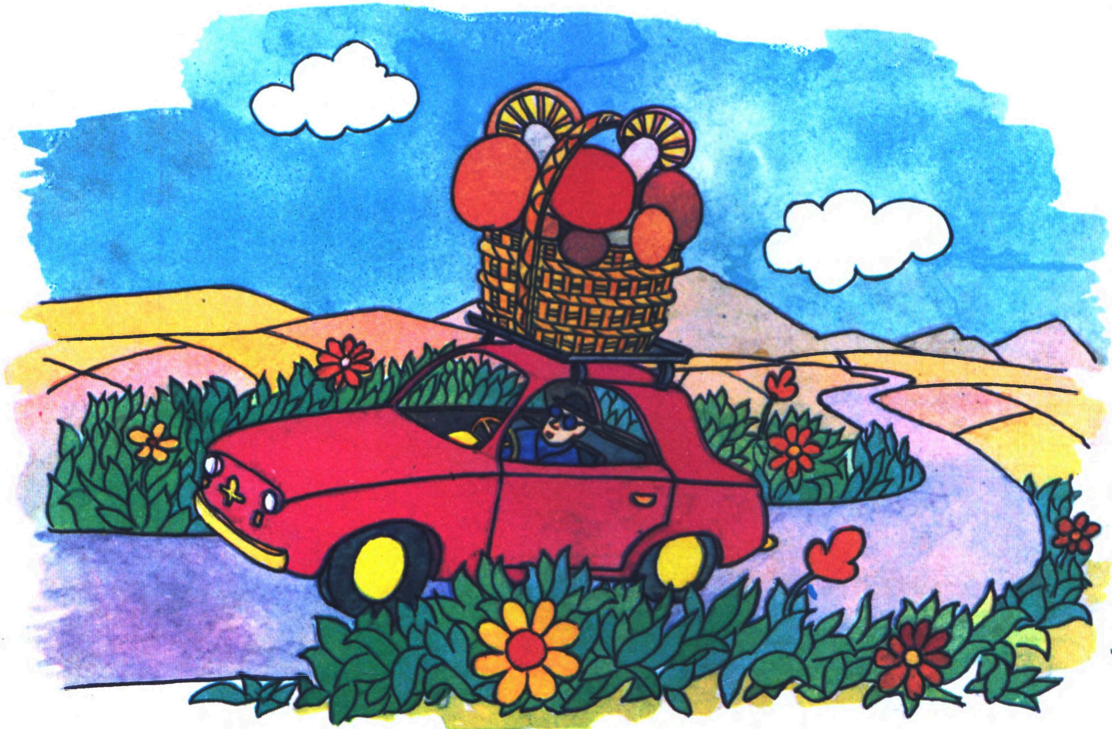
...हमारे पूर्वजों का जीवन बड़ा कठिन था। उनके चारों ओर ऐसा संसार था, जिसे वे समझते नहीं थे और जिसमें उनके अनेक शत्रु थे। क़दम-क़दम पर उन्हें प्राकृतिक विपदाओं का, भूख, ठंड और जंगली जानवरों का सामना करना पड़ता था। उन्हें बस अपने ही बूते पर ऐसे शक्तिशाली शत्रुओं से जूझना होता था।

लेकिन वे अपने फुर्तीले हाथों और तेज़ टांगों के बल पर ही शत्रु को नहीं जीतते थे। दौड़ने में तो ख़ूंख़ार जानवर उनसे तेज़ थे। मनुष्य का सबसे बड़ा अस्त्र था उसकी तीक्ष्ण बुद्धि।

... बिजली गिरने से पेड़ जल उठा है। हवा चिंगारियां उड़ाती है। और उनसे पास का दूसरा पेड़ जल उठता है। झाड़ी में आग लग जाती है। लाल-लाल लपटें घास पर फैलने लगती हैं। और लो, सारा जंगल धू-धू करता जलने लगा है, दावानल अपनी होम-लीला करने लगा है। आतंकित जानवर बौखलाये से आग से दूर भाग रहे हैं, पक्षी आकाश में दूर ऊपर उड़ते जा रहे हैं। बस बदन पर जानवरों की खालें लपेटे नाटे से कुछ लोग ही हैं, जो जंगल के सिरे पर झुंड बनाकर खड़े हैं। वे भी डर के मारे आग से दूर भागना चाहते हैं। लेकिन वे जानते हैं: आग जल्दी ही बुझ जायेगी। और ऊंची-ऊंची लपटों की जगह यहां लाल-पीले शोले रह जायेंगे, जिनके पास इस ठंडी रात में उन्हें गर्माहट मिलेगी। और राख को टटोलने पर उसके नीचे भुने हुए नरम-नरम कंदमूल मिलेंगे।

फिर किसी ने राख में से सुलगते कोयले उठाकर सूखी घास की ढेरी पर फेंक दिये। और पहला अलाव जल उठा। मनुष्य ने अग्नि को अपने वश में कर लिया और वह पृथ्वी पर सबसे शक्तिशाली हो गया।

क्यों? क्योंकि उसके पास अब **ऊर्जा का नया स्रोत था**, जो भूख, अंधकार और हिंसक जंतुओं से जूझने में उसका बहुत बड़ा सहायक था।







१२ कैसी है यह ऊर्जा ?

एक बात हम तुम्हें तुरन्त ही बताये देते हैं: ऊर्जा को किसी ने नहीं देखा है। इसका कोई रंग नहीं, कोई स्वाद नहीं, कोई गंध नहीं है। इसे हाथ से छुआ नहीं जा सकता, जैसे हम ईंट को छू सकते हैं। ऊर्जा को "देख पाने" का एक ही तरीक़ा है: इससे काम कराओ।

अब तो लोगों ने इस अदृश्य शक्ति के प्रायः सभी रहस्य जान लिये हैं।

पता चला कि "केवल ऊर्जा" तो होती नहीं। इसके तो पांच रूप हैं: **रासायनिक ऊर्जा, ताप ऊर्जा, यांत्रिक ऊर्जा, विद्युत ऊर्जा और परमाणु या नाभिकीय ऊर्जा।**

अभी हम ऊर्जा के इन रूपों के गुणों की विस्तार से चर्चा नहीं करेंगे। यह आगे की बात है और हर बात का अपना समय होता है। इसीलिए तो किताब लिखी गई है।

अभी तो हम बस इनके सबसे प्रमुख गुणों और क्षमताओं के बारे में ही बताना चाहते हैं।

पहला और सबसे बड़ा गुण हम जानते हैं – ऊर्जा के सभी रूप "काम कर सकते हैं"।

ऊर्जा का दूसरा गुण तो बिल्कुल चमत्कारिक है। पता चला कि ऊर्जा एक रूप से दूसरे रूप में रूपांतरित हो सकती है। रासायनिक ऊर्जा ताप ऊर्जा बन सकती है, और ताप ऊर्जा यांत्रिक ऊर्जा।

और लोग बहुत समय से उसके इस गुण का उपयोग कर रहे हैं। उन्होंने बहुत सी ऐसी मशीनें सोची और बनाई हैं, जो ऊर्जा के रूप बदलती हैं।

प्रायः ऐसा होता है कि आवश्यक रूपांतरण के लिए एक मशीन काफ़ी नहीं होती। तब लोग मशीनों की एक शृंखला बनाते हैं और मशीनें एक दूसरी को ऊर्जा देती जाती हैं, वैसे ही जैसे रिले-रेस में एक खिलाड़ी दूसरे को डंडी पकड़ाता है, दूसरा तीसरे को। अंतर बस इतना है कि दौड़ में डंडी तो वही रहती है, खिलाड़ी बदलते जाते हैं। लेकिन हम जिस शृंखला की चर्चा कर रहे हैं, उसमें "खिलाड़ी" यानी मशीनें भी बदलती हैं, और "डंडी" यानी ऊर्जा भी। हर मशीन अपने से पहले की मशीन से ऊर्जा का एक रूप लेती है और अगली मशीन को दूसरा रूप देती है।

पृथ्वी पर ऐसी बहुत सी शृंखलाएं काम करती हैं: बिजलीघरों में, जहाज़ों पर, और भी बहुत सी जगहों पर।

ऊर्जा के प्रायः सभी रूपों को लोग **यांत्रिक ऊर्जा** में बदलते हैं। इस ऊर्जा की मनुष्य को सबसे अधिक आवश्यकता है। यही ऊर्जा रेलगाड़ियों को पटरियों पर चलाती है, विमानों को आकाश में उठाती है, क़मीज़ें "सीती" है, मोटरगाड़ियां "बनाती" है। हमारे हृदय की यांत्रिक ऊर्जा रक्तवाहिकाओं में रक्त का संचार करती है, और मांसपेशियों की ऊर्जा की बदौलत हम चल-फिर सकते हैं, पढ़-लिख सकते हैं।

अच्छा, यह तो ठीक है। हमने ख़राद पर कोई पुर्ज़ा बना लिया, या मशीन पर क़मीज़ सी ली। पर वह ऊर्जा कहां गई, जिसने इस काम में हमारी मदद की थी? उसका क्या हुआ? क्या वह पुर्ज़ा, या क़मीज़ या कुछ और चीज़ बन गई? नहीं, ऐसा कुछ भी नहीं हुआ।

ऊर्जा के साथ कुछ भी क्यों न किया जाये, वह ऊर्जा ही रहती है। वह न नष्ट होती है, न बनती है। वह तो बस एक रूप से दूसरे रूप में बदलती है।

और जब ऊर्जा आदमी की मदद कर चुकी होती है – इस्पात गलाने का, माल ढोने का, या टेलीविज़न पर कोई कार्यक्रम दिखाने का काम कर चुकी होती है, तो वह अनिवार्यतः ऊष्मा यानी **ताप ऊर्जा** बन जाती है।

ज़रा देखो: इंजन हवा से बातें करता चला आ रहा है। उसके पीछे डिब्बों की लंबी क़तार है। सामने से आती हवा इंजन से टकराती है, हर पायदान में फंसती है। डिब्बों की छतों और दीवारों से रगड़ती है। ट्रेन को आगे बढ़ने से रोकती है। डिब्बों तले पहिये ठक-ठक करते हैं, पटरियों पर चलते हैं, और वे भी पटरियों से रगड़ खाते हैं। यह रगड़ ही, जिसे घर्षण भी कहते हैं, इंजन की प्रायः सारी शक्ति खा जाती है।

रगड़ से तो हर चीज़ गरम होती है। इस बात की जांच बड़ी आसानी से की जा सकती है। अपनी हथेलियां रगड़ कर देखो – तुरन्त ही पता चल जायेगा।

तो क्या इंजन अपने काम से पटरियों और हवा को गरम करता है? हां। फिर यह ऊष्मा वायुमण्डल में चली जाती है, और वहां से आगे अंतरिक्ष में।

यही बात कार पर भी लागू होती है। कार के लंबे सफ़र के बाद पहिये को हाथ लगाकर देखो, पता है कितने गरम होते हैं!

इस सबका क्या मतलब निकलता है? यही कि पृथ्वी अंतरिक्ष को "गरम" करती है? हां, बिल्कुल यही।

लेकिन अंतरिक्ष पृथ्वी से ऊर्जा लेता ही नहीं है। वह हमें अपनी सौर ऊर्जा भेजता है। यह ऊर्जा पेड़-पौधों में जमा होती है और **रासायनिक ऊर्जा** में रूपांतरित हो जाती है। देर-सवेर सभी पौधे सूख जाते हैं और उनके अवशेष खनिज तेल, गैस, पत्थर का कोयला और दलदली कोयला बन जाते हैं।

आज ईंधन ही पृथ्वी पर ऊर्जा का प्रमुख स्रोत है, या यह कहिये कि फ़िलहाल प्रमुख स्रोत है।

ईंधन जलाकर ही लोग ऊर्जा की अपनी प्रायः सारी ज़रूरतें पूरी करते हैं। बिजलीघरों के बायलरों में, मोटरगाड़ियों, जलपोतों, विमानों के इंजनों में, लोहा गलाने की भट्ठियों में, राकेटों में हर साल इतना ईंधन जलता है, कि उससे कृष्ण सागर का सारा पानी उबाला जा सकता है।







१८ ऊष्मा कैसे हमारे काम आती है ?

कहते हैं, बहुत साल पहले एक लड़का अंगीठी के पास बैठा था। आग पर पतीला चढ़ा हुआ था। ढकने तले से भाप निकल रही थी। ढकना उछल रहा था, खनखना रहा था।

"यह ढकना उछल क्यों रहा है?" लड़के ने सोचा। एक कपड़ा लेकर उसने ढकना हाथ से कसकर दबाया। लेकिन वह उसे दबाये नहीं रख सका। कोई अनबूझ शक्ति ढकने को नीचे से धकेल रही थी। इस लड़के का नाम था जेम्स वाट।

लोग तो सदियों से पानी उबालते आये थे। पतीले में खाना पकाते आये थे। पानी जल्दी उबले इसके लिए वे पतीलों को ढकनों से बंद करके रखते थे।

पतीले में जब पानी उबलता है, तो भाप बनती है। यदि पतीला ढकने से अच्छी तरह ढका हुआ है, तो उसमें भाप ज़्यादा ही ज़्यादा होती जाती है। वह चारों ओर ज़ोर डालती है: पानी पर, पतीले की दीवारों पर और ढकने पर भी। वह बाहर निकलने का रास्ता ढूंढ़ती है। आख़िर वह ढकने को उठा लेती है और आज़ादी पा लेती है। ढकना फिर से बंद हो जाता है और भाप फिर से फंस जाती है। फिर वह जमा होती रहती है और ढकने को उठाने की कोशिश करती है। तुमने ख़ुद कई बार रसोई में यह सब देखा होगा। यही सब दो सौ साल पहले जेम्स भी देख रहा था।

कोई पत्थर, या पानी से भरी बाल्टी, या ढकना ही उठाने के लिए शक्ति चाहिए। तो इसका मतलब हुआ कि पतीले का ढकना उठाने वाली भाप में यह शक्ति है। यह बात तो वैज्ञानिक पहले से ही जानते थे। वाट के जन्म से सौ साल पहले ही अंग्रेज़ मिस्त्रियों न्यूकमन और थामस सावेरी ने ऐसी मशीनें बनाई थीं, जो भाप की शक्ति को इस्तेमाल करती थीं। ये मशीनें खानों में से पानी बाहर निकालती थीं, कोयले से भरे ठेले खींचती थीं, भार उठाती थीं। लेकिन इनकी क्षमता बहुत थोड़ी थी, ये बहुत बड़ी, भारी-भरकम होती थीं और बहुत "पेटू" भी। हर मशीन एक दिन में ढेर का ढेर कोयला "खा" जाती थी और टनों पानी "पीती" थी। और फ़ायदा इनसे कोई ख़ास था नहीं।

जेम्स जब सोलह साल का हुआ तो एक वर्कशाप में काम करने लगा, जहां पम्पों, भाप की मशीनों और करघों की मरम्मत का काम होता था। वह हर फ़न मौला कारीगर बन गया, और फिर उसने भाप से चलने वाली बहुत बढ़िया मशीन बनाई।

यह तीन ढकनों वाला "पतीला" – सिलंडर – था। दो ढकने पूरी तरह बंद होते थे। और तीसरा ढकना – पिस्टन, जो अंदर था, चल सकता था। छेदों में से भाप कभी पिस्टन-ढकने के ऊपर से और कभी नीचे से अंदर जाती थी, और पिस्टन नीचे-ऊपर चलता था। इस पिस्टन को पम्प या करघे के साथ जोड़ा जाता था। पिस्टन चलता और उसके साथ ही पम्प भी काम करता, करघा भी चलता।

भाप बनाने के लिए एक ख़ास टंकी – बायलर – में पानी उबाला जाता था। नलियों से होते हुए भाप बायलर से मशीन तक जाती थी।

वाट की मशीन दूसरी मशीनों से कई गुनी अच्छी थी। इसमें कोयला और पानी कम लगता था। यह दूसरी मशीनों से अधिक तेज़ी से काम करती थी और इससे लाभ भी अधिक होता था।

इस मशीन के साथ ही "भाप युग" आरम्भ हुआ। फ़ैक्टरियों और कारख़ानों की चिमनियां धुआं छोड़ने लगीं। नदियों और समुद्रों में स्टीमर चलने लगे। इन्हें हवा के रुख़ का इंतज़ार नहीं करना होता था। भाप की मशीन की बदौलत जहाज़ जहां चाहते जा सकते, और उन्हें पालों की भी ज़रूरत नहीं रही थी।

पटरियों पर इंजन चलने लगे। ये इतना माल खींच सकते थे, जितना एक साथ सौ घोड़े भी नहीं खींच सकते थे। भाप से चलनेवाली मोटरगाड़ी भी बनाई गई। लोगों के देखते-देखते दुनिया बदल रही थी।

लेकिन ऐसा एकाएक नहीं हो गया। बुद्धिमान लोग भी तुरन्त ही नहीं समझ पाये थे कि कितनी बड़ी शक्ति उनके हाथों में आ गई है।

कहते हैं, एक बार फ़्रांस के सम्राट नेपोलियन के पास मामूली से कपड़े पहने एक नौजवान आया। उसने एक विचित्र जलपोत का नक़्शा सम्राट के सामने रखा। इस पोत पर न ऊंचे-ऊंचे मस्तूल थे, न पाल। बस पोत के बीचोंबीच पतली सी ऊंची चिमनी थी, उसमें से काला-स्याह धुआं निकल रहा था। पोत के अग़ल-बग़ल दो विशाल पहिये दिखाई दे रहे थे। उन दिनों के हिसाब से यह बड़ा ही कुरूप पोत था। अन्वेषक अभी अपनी बात पूरी भी न कर पाया था कि नेपोलियन ने उसे भगा दिया। बारह साल बाद नेपोलियन को काला पानी की सज़ा भुगतने के लिए सेंट हेलेन द्वीप पर ले जाया जा रहा था। सहसा उसे पास से एक और जहाज़ गुज़रता दिखाई दिया... तुम समझ गये यह कौन सा जहाज़ था? हां, वही था यह। ऊंची चिमनी और विशाल पहियों वाला जलपोत। उस पर नेपोलियन के जानी दुश्मन – इंगलैंड – का झंडा फहरा रहा

था। पता चला कि जब नेपोलियन ने फ़ुलटन को (स्टीमर बनाने वाले का यही नाम था) भगा दिया, तो वह सीधा इंगलैंड गया। और वहां उसकी खोज की क़द्र हुई।

रूस में भाप से चलने वाली पहली मशीनें येफ़ीम चेरेपानोव नाम के हुनरमंद कारीगर ने अपने बेटे मिरोन के साथ मिलकर बनाईं। ये मशीनें खानों और वर्कशापों में काम करती थीं। और १८३४ में उन्होंने उराल में रूस का पहला भाप-इंजन चलाया।

सौ साल तक वाट की मशीन से अच्छी और कोई मशीन नहीं थी। पर एक दिन एक नई घटना हुई।

इंगलैंड में समुद्री जहाज़ों की परेड आयोजित की गई। सभी जहाज़ अपने-अपने स्थान पर खड़े हो गये। मल्लाह डेकों पर पंक्तिबद्ध खड़े थे। पर तभी जहाज़ों के सामने एक छोटा सा पोत पता नहीं कहां से आ गया। उसे यहां किसी ने नहीं बुलाया था। एडमिरल ने हुक्म दिया कि इस घुसपैठिये को पकड़कर बंदरगाह में खड़ा कर दो। सबसे तेज़ जहाज़ पोत का पीछा करने लगा। पर वह कहां पकड़ में आने वाला था। छोटा सा पोत बड़ी आसानी से पीछा करनेवालों से दूर निकल गया।

इस पोत का कप्तान था इंजीनियर चार्ल्ज़ पर्सन्स। उसने अपने पोत पर एक नया इंजन – भाप-टर्बाइन – लगाया था।

भाप की मशीन तो पम्प जैसी होती है – उसमें पिस्टन ऊपर-नीचे चलता है, और टर्बाइन ऐसी भंभीरी जैसी होती है, जिस पर पंखुड़ियां लगी हों। वैसे लैटिन भाषा में "टर्बो" का मतलब ही होता है भंभीरी। नली से आती भाप की धार पंखुड़ियों पर पड़ती है और इससे टर्बाइन घूमती है।

पार्सन्स ने इस "भंभीरी" को लिटा दिया और टर्बाइन की धुरी पर पंखा – प्रोपेलर – लगा दिया। टर्बाइन घूमती और उसके साथ ही प्रोपेलर भी , और पोत तेज़ी से आगे बढ़ता।

अब टर्बाइनें केवल समुद्री जहाज़ों में ही नहीं लगी होतीं। इनका प्रमुख काम अब ताप बिजलीघरों में है, जहां ऊष्मा को विद्युत ऊर्जा में रूपांतरित किया जाता है।

आज से सौ साल पहले एक और इंजन बना। यह भी ईंधन से ही ऊर्जा पाता था। लेकिन यह ईंधन बायलर की भट्ठी में नहीं बल्कि इंजन के भीतर ही जलाया जाता था। इसलिए इसे आंतरिक दहन इंजन कहा गया।

यह भाप की मशीन जैसा ही है – इसमें भी वैसा ही सिलंडर और पिस्टन होते हैं। लेकिन इसके लिए भाप नहीं चाहिए, बायलर और भाप की नलियां नहीं चाहिए। इसके काम करने का तरीक़ा यह है।

सिलंडर में तरल ईंधन – तेल या पेट्रोल – छिड़का जाता है। वहां वह जल उठता है और इस तरह सिलंडर में गरम गैस बनती है। यह गैस पिस्टन पर जोर डालती है और उसे धकेलती है। पिस्टन धुरी को घुमाता है, जिस पर पहिया या प्रोपेलर लगा होता है।

इस इंजन की खोज जर्मन इंजीनियर रुडोल्फ़ डीज़ल ने की थी। प्रायः उन्हीं दिनों पीटर्सबर्ग के एक कारख़ाने में रूसी इंजीनियरों और मज़दूरों ने अपना इंजन बनाया। यह आकार में डीज़ल के इंजन से छोटा था, उससे हल्का था, और सबसे बड़ी बात सस्ते ईंधन – खनिज तेल – से चलता था।

अब तो तुम्हें अपने चारों ओर आंतरिक दहन इंजन दिखाई देंगे। परिवहन का कोई भी साधन ले लो – समुद्रों में चलते जहाज़, रेलों के डीज़ल इंजन, सड़कों पर चलती कारें, बसें, हवा में उड़ते हेलिकाप्टर और छोटे विमान – सभी में यह सीधा-सादा इंजन लगा होता है। खेतों में ट्रैक्टर और कम्बाइनें भी इसी इंजन से चलती हैं।

आज की मोटरकारों की "परनानी" तो दो सौ साल पहले फ़्रांस में बनी थी। इस पर भाप की मशीन और बायलर लगा हुआ था। पेरिस में इस विचित्र गाड़ी का बड़ी धूमधाम से परीक्षण हुआ। आगे-आगे पुलिसवाले तमाशबीनों की भीड़ हटाते चल रहे थे। उनके पीछे धुएं और भाप के बादलों से घिरी गाड़ी चल रही थी। उसके पीछे पानी के पीपों और कोयले से लदी घोड़ागाड़ियां थीं। दस-दस मिनट बाद सब रुक जाते। भट्ठी में कोयला झोंका जाता, बायलर में पानी भरा जाता और फिर से "यात्रा" आरम्भ होती। पर यात्रा थोड़ी देर ही चली। गाड़ी चला रहा अन्वेषक हैंडल नहीं संभाले रह सका, गाड़ी एक मकान की दीवार से जा टकराई और फट गई। अब निकोला जोज़ेफ़ कुन्यो की बनाई गाड़ी की मरम्मत और सफ़ाई करके उसे पेरिस के परिवहन संग्रहालय में रखा गया है।

सचमुच की पहली गाड़ी तो १८८६ में चली थी। जर्मन मिस्त्री गोट्लिब डेम्लर ने उसे अपने हाथों बनाया था। यह गाड़ी उसने बग्घी पर पेट्रोल से चलने वाला इंजन लगाकर तैयार की थी। इस इंजन का डिज़ाइन उसने स्वयं सोचा था।

रूसी नौसेना के कप्तान अलेक्सान्द्र मोझाइस्की ने जो पहला हवाई जहाज़ बनाया था, वह भी उड़ान के लिए बहुत भारी था। उस पर लगी भाप की मशीन का वज़न इतना था कि हवाई जहाज़ बस दौड़ लगाकर कुछेक बार ऊपर को उछल ही पाया। मोझाइस्की स्वयं भी समझता था कि भाप की







 मशीन पर उड़ा नहीं जा सकता, कि विमान के लिए कोई दूसरा इंजन चाहिए, जो अधिक हल्का हो और साथ ही अधिक शक्तिशाली।

उसका यह अनुमान सही निकला। १९०२ में पेट्रोल इंजन वाला विमान उड़ा। अमरीका के ओर्विल और विल्बर राइट नाम के दो भाइयों ने यह हवाई जहाज़ बनाया था। उड़ान भरने का उनका पहला प्रयास असफल रहा। पहली उड़ान विल्बर भर रहा था, उसने हवाई जहाज़ की "नाक" बड़ी तेज़ी से ऊपर को उठा दी, जिसके कारण रफ़्तार कम हो गई और हवाई जहाज़ ज़मीन पर आ गिरा। सौभाग्यवश किसी को कुछ नहीं हुआ। दो हफ़्ते बाद ओर्विल हवाई जहाज़ के पंख पर लेटा – हां, यह हवाई जहाज़ ऐसे ही चलाया जाता था। उसने इंजन चालू किया, हवाई जहाज़ तेज़ी से दौड़ चला और फिर उड़ने लगा। इन्सान की यह पहली उड़ान केवल सत्रह सेकंड की थी।

तो ऐसा बढ़िया इंजन खोज निकाला था इंजीनियरों ने।

लेकिन अपने "नाना" – भाप के इंजन – से उसने विरासत में एक बहुत बड़ी कमी भी पाई थी। आंतरिक दहन इंजन के और भाप के इंजन के पिस्टन एक ही तरह काम करते हैं: ऊपर-नीचे, ऊपर-नीचे – और इस तरह चलते हुए वे इंजन का अस्थि-पंजर ढीला करते हैं। इंजन जितना अधिक शक्तिशाली होता है, उतना ही ढीला पड़ता है, यहां तक कि वह अपने पिस्टनों की "चोटों" से ही टुकड़े-टुकड़े हो सकता है।

यह तो तुम जानते ही हो कि टर्बाइनों में कोई हिलने वाले पिस्टन नहीं होते। सो उनके टुकड़े-टुकड़े होने का भी कोई ख़तरा नहीं है। इसलिए वे बहुत शक्तिशाली और मज़बूत भी हो सकती हैं।

अभी हाल ही में लेनिनग्राद के धातु कारख़ाने में यह बात साबित कर दिखाई गई है। यहां एक असाधारण भाप टर्बाइन बनाई गई है। इस अकेली टर्बाइन की क्षमता १९१७ की क्रांति से पहले रूस में काम कर रही सभी टर्बाइनों की कुल क्षमता से अधिक है।

सो इंजीनियर सोचने लगे। आंतरिक दहन इंजन हल्का है और इसका डिज़ाइन सीधा-सादा है। लेकिन इसकी शक्ति बहुत अधिक नहीं हो सकती। दूसरी ओर टर्बाइन है। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह बहुत बढ़िया इंजन है। लेकिन इसके लिए बायलर चाहिए। और आजकल जो भाप बायलर बनाये जाते हैं, वे पांच मंज़िले मकान जितने बड़े होते हैं। बायलर

के अलावा टर्बाइन के लिए रेफ़्रिजरेटर, पाइप और पम्प भी चाहिए।

"क्या आंतरिक दहन इंजन के हल्केपन और सरलता को टर्बाइन की क्षमता और रफ़्तार से जोड़ा नहीं जा सकता?" इंजीनियरों ने सोचा। "क्यों न गरम गैस पिस्टन धकेलने के बजाय भंभीरी को घुमाये?" और ऐसा इंजन बना लिया गया। सोवियत संघ में इसका निर्माण १९३९ में हुआ और इसका नाम गैस टर्बाइन रखा गया।

गैस टर्बाइन भाप टर्बाइन जैसी होती है। अंतर इतना है कि टर्बाइन भाप से नहीं, बल्कि तपी हुई गैस की धार से चलती है।

यह बहुत हल्का, सशक्त और तेज़ इंजन है। यह तो मानो बना ही हवाई जहाज़ों के लिए है। और अब गैस टर्बाइनें प्रायः सभी विमानों पर काम करती हैं।

यदि तुमने कभी सचमुच की बंदूक़ चलाई है, तो तुम्हें याद होगा कैसे गोली छूटने के साथ कुंदे से कंधे पर झटका लगता है। यह झटका क्यों लगता है? यह समझने के लिए आओ यह देखें कि गोली छूटती कैसे है। हम लिबलिबी दबाते हैं घोड़ा पिस्टन पर चोट करता है, चोट से चिंगारी निकलती है, यह चिंगारी कारतूस में भरा बारूद जलाती है। बारूद के जलने से बनी गैस बहुत ज़ोर से गोली या छर्रों पर और अन्य सभी दिशाओं में भी दबाव डालती है। गैस के प्रहार से गोली बंदूक़ की नली से छूटती है और बंदूक़ चलाने वाले के कंधे पर झटका लगता है। वह बल जो बंदूक़ और शिकारी पर दबाव डालता है, प्रतिघाती बल कहलाता है।

और यदि कारतूस में से गोली निकाल कर "ख़ाली" कारतूस दागा जाये, तो क्या झटका लगेगा? हां, लगेगा। और यदि "बंदूक़" में बारूद या इंधन आम बंदूक़ की तरह थोड़ा-थोड़ा करके नहीं, बल्कि निरंतर पहुंचाया जाये, तो? या ऐसा किया जाये कि बारूद एकदम सारा न जले, बल्कि धीरे-धीरे जलता जाये? तब प्रतिघाती शक्ति भी "बंदूक़" पर निरंतर दबाव डालेगी, उसे धकेलेगी। यही है जेट इंजन का सिद्धांत।

कहते हैं कि वियतनाम में हर लड़का ऐसा इंजन बनाना जानता है। बांस का टुकड़ा लेकर उसमें बारूद भर देते हैं और फिर बारूद में आग लगा देते हैं। जलते बारूद की गैस बाहर निकलती है और बांस को आगे धकेलती है।

बेशक, सचमुच के जेट इंजन बांस से नहीं बल्कि सबसे मज़बूत इस्पात से बनाये जाते हैं। ये इंजन हवाई जहाज़ों और राकेटों पर लगाये जाते हैं।

२६ हवाई जहाज़ों के इंजन तरल ईंधन – मिट्टी के तेल – से चलते हैं। राकेट के इंजन तरल और ठोस दोनों तरह के ईंधन से चल सकते हैं। हवाई जहाज़ के इंजन की बनावट राकेट इंजन से बहुत भिन्न होती है। और यह बात समझ में भी आती है, क्योंकि दोनों इंजन बिल्कुल भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में काम करते हैं।

हवाई जहाज़ तो ज़मीन के पास ही वायुमण्डल में उड़ते हैं, दूसरे शब्दों में हवा में उड़ते हैं, और यह हवा ईंधन के दहन के लिए ज़रूरी होती है। विमानों के "हवाई" इंजनों में एक विशेष युक्ति होती है – हवाचूस। उड़ान के दौरान उसका खुला "मुंह" सामने से आती हवा को पकड़ता है। फिर वह बहुत संपीडित होकर दहन कक्ष में पहुंचती है। यहीं पर मिट्टी का तेल भी "छिड़का" जाता है। उच्च तापमान के कारण ईंधन जल उठता है। तप्त गैस की धार तुंड में से बाहर निकलती है और इंजन को तथा उसके साथ ही विमान को आगे धकेलती है।

राकेट पृथ्वी से दूर उड़ते हैं – वायुहीन अंतरिक्ष में। इस बात की ओर ध्यान दो – वे **वायुहीन अंतरिक्ष** में उड़ते हैं। लेकिन ईंधन को तो जलना है। इसलिए राकेट हवा भी अपने साथ लेकर चलता है। वैसे सही-सही कहा जाये, तो हवा नहीं आक्सीजन लेकर चलता है।

यदि राकेट इंजन तरल ईंधन से चलता है, तो उसके लिए दो टंकियों की ज़रूरत होती है – एक में ईंधन होता है और एक में आक्सीजन। ईंधन और आक्सीजन दहन कक्ष में पहुंचाये जाते हैं ... और आगे तो तुम सब जानते ही हो।

असल में राकेट पर कई सारी टंकियां होती हैं। जब एक जोड़ी में ईंधन और आक्सीजन ख़त्म हो जाता है, तो उसे फेंक दिया जाता है, और ईंधन व आक्सीजन अगली जोड़ी से लिया जाता है। जब वह भी ख़ाली हो जाती है, तो तीसरी जोड़ी की बारी आती है।

कृत्रिम भू-उपग्रह और अंतरिक्षयान छोड़े जाने के समाचार तो तुमने सुने ही होंगे। "पहला चरण ठीक समय पर अलग हो गया ... दूसरा चरण अलग हो गया ... तीसरा चरण ..." ये चरण ईंधन और आक्सीजन की टंकियां ही हैं।

ठोस ईंधन में आक्सीजन पृथ्वी पर ही मिला दी जाती है। और वह टंकी में ही जलता है। जब एक टंकी "जल" जाती है, तो उसे राकेट से अलग करके फेंक देते हैं। अगली टंकी में ईंधन जलने लगता है ... ये भी वही राकेट के चरण हैं।

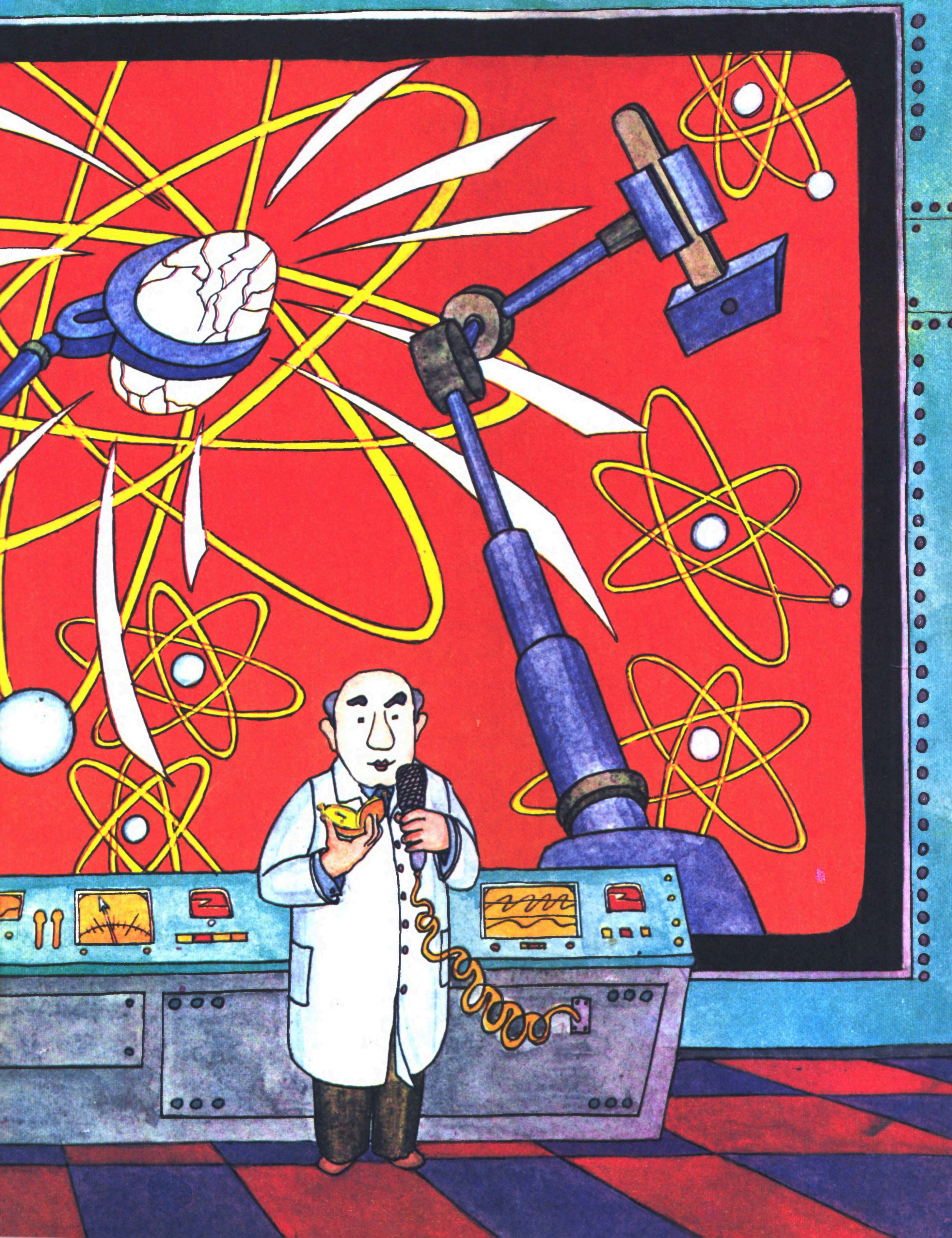
अभी तक हमने जिन इंजनों के बारे में बताया है, वे सब "निकट सम्बन्धी" हैं। इन सबको काम करने के लिए ईंधन चाहिए। ईंधन जलता है और ताप ऊर्जा प्रदान करता है। इसीलिए इन मशीनों को ताप मशीनें कहते हैं।

अभी तो पृथ्वी पर बहुत ईंधन है। लेकिन इसके भंडार वर्ष प्रति वर्ष कम होते जा रहे हैं। वैज्ञानिकों का ख़्याल है कि और सौ-डेढ़ सौ साल के लिए ईंधन काफ़ी होगा। वह भी तब जबकि हम उसका उपयोग किफ़ायत से करेंगे। और इसका अर्थ यह है कि लोगों को ऊर्जा के पुराने स्रोतों का अधिक अच्छी तरह उपयोग करना चाहिए और नये स्रोत ढूंढ़ने चाहिए।

कौन से नये स्रोत? इन्हीं की अब हम चर्चा करेंगे।







किलोग्राम यूरेनियम का वज़न कितना है?

तुमने परमाणु बिजलीघरों और परमाणुचालित पोतों के बारे में सुना है? ज़रूर सुना होगा और पढ़ा होगा। परमाणु बिजलीघरों में बिजली बनती है और परमाणुचालित हिमभंजक पोत उत्तरध्रुवीय महासागर में बर्फ़ तोड़कर माल से लदे जहाज़ों के लिए रास्ता बनाते हैं।

परमाणु ऊर्जा का उपयोग करना लोगों ने थोड़े समय पहले ही सीखा है। १९५४ में सोवियत संघ के ओब्निन्स्क नगर में संसार का पहला परमाणु बिजलीघर चालू हुआ। और पहले परमाणुचालित जहाज़ तो इससे भी बाद में बने।

लेकिन परमाणु शब्द लोग बहुत पहले से जानते हैं।

आज से तेईस सौ साल पहले प्राचीन यूनान में डेमोक्रीटस नाम का एक विद्वान रहता था। उसने मनुष्य के चारों ओर व्याप्त प्रकृति के बारे में बहुत चिंतन-मनन किया। उसने इस बात पर विचार किया कि सभी पदार्थ और वस्तुऐं, जल और पत्थर, पेड़, फूल और पशु किस चीज़ से "बने" हुए हैं। उसके पास ऐसे कोई जटिल उपकरण नहीं थे, जैसे आजकल के वैज्ञानिकों के पास हैं। लेकिन डेमोक्रीटस ने अपने चिंतन के बल पर ही अद्वितीय अनुमान लगाया। उसने यह कल्पना की कि प्रकृति में सब कुछ किन्हीं कणों से बना हुआ, जैसे कि मकान ईंटों से बना होता है। प्रकृति की ये "ईंटें" अदृश्य हैं और प्रकृति में इनसे छोटा और कुछ है ही नहीं। इन कणों को आगे विभाजित करना असम्भव ही है। इन कणों का नाम डेमोक्रीटस ने एटम (परमाणु) रखा, जिसका अर्थ ही है "अविभाज्य"।

सदियों बाद ही यह पता चला कि प्राचीन विद्वान का कथन अंशतः सही है।

सौ साल पहले की बात है। एक दिन फ़्रांसीसी भौतिकविज्ञानी आंरी बेक्केरेल घर लौटने से पहले अपनी प्रयोगशाला साफ़ कर रहा था। उसने टेस्ट-ट्यूबें और फ़्लास्क अल्मारी में रखे, मोटे काले कागज़ में लिपटी फ़ोटो-प्लेटें भी अल्मारी के एक ख़ाने में रखीं। साफ़-सुथरी मेज़ों पर एक बार फिर नज़र डाली। वहां उसे उस पदार्थ के कुछ टुकड़े नज़र आये, जिनके गुणों का वह अध्ययन कर रहा था। इस पदार्थ का नाम था यूरेनियम। बेक्केरेल जल्दी में था। टुकड़े बटोर कर उसने अल्मारी के ख़ाने में रख दिये। उनमें से एक टुकड़ा फ़ोटो-प्लेट के लिफ़ाफ़े पर गिर पड़ा। गैस-बत्ती बुझाकर बेक्केरेल ने दरवाज़ा बंद किया और घर चला गया।

अगले दिन बेक्केरेल ने लिफ़ाफ़े पर पड़ा टुकड़ा झाड़ दिया, फ़ोटो-प्लेट पर आवश्यक चित्र खींचा और फिर प्लेट धोई। लेकिन प्लेट पर फ़ोटो नहीं आया। उसे

पहले ही रोशनी लग चुकी थी। जहां उस पर यूरेनियम का टुकड़ा पड़ा हुआ था, वहां काला धब्बा दिखाई दे रहा था। वैज्ञानिक को इस पर बड़ा आश्चर्य हुआ, अब उसने जानबूझकर यह प्रयोग दोहराया और फिर से प्लेट पर यूरेनियम की छवि अंकित हो गई।

अब क्यूरी दम्पति इस रहस्य को समझने के लिए काम करने लगे। उन्होंने विभिन्न पदार्थों का परीक्षण किया। पता चला कि रेडियम और पोलोनियम में भी ठीक ऐसे ही गुण हैं। लेकिन इसका कारण क्या है? इसकी केवल एक ही व्याख्या हो सकती थी – "अविभाज्य" परमाणुओं की गहराइयों में से किन्हीं कणों की धाराएं आती हैं। ये कण ही फ़ोटो-प्लेटों पर अपनी "छवि" छोड़ते हैं। और इसका अर्थ यह था कि परमाणु सबसे छोटा कण नहीं है, उससे भी छोटे कण हैं।

अब हम प्रायः सही-सही जानते हैं कि परमाणु कैसे बना होता है। शहद की भारी बूंद की कल्पना करो, जिसके चारों ओर मक्खियां मंडरा रही हैं। मक्खियां बूंद के इर्द-गिर्द ही चक्कर काटती रहती हैं, उससे अलग नहीं हो जातीं। यदि हम किसी भी पदार्थ का परमाणु देख पाते, तो हमें लगभग ऐसा ही दृश्य दिखाई देता। केन्द्र में भारी "बूंद" यानी नाभिक है और इसके इर्द-गिर्द सचल "मक्खियां" – इलेक्ट्रोन। वे मानो "खूंटे" से बंधे हुए हैं, और नाभिक के इर्द-गिर्द ही घूमते रहते हैं। हां, वे मक्खियों की तरह बेतरतीब ढंग से नहीं उड़ते हैं, बल्कि हर इलेक्ट्रोन अपने परिक्रमा-पथ पर चक्कर काटता है।

यही सब कुछ नहीं। पता चला है कि नाभिक भी कसकर एक दूसरे से जुड़े कणों से बना होता है। इन कणों को प्रोटोन और न्यूट्रोन कहते हैं। नाभिक उस स्प्रिंग जैसा होता है, जिसे रस्सी से कसकर बांध दिया गया हो और स्प्रिंग की ही तरह उसमें प्रचंड शक्ति है। स्प्रिंग सीधा हो जाये और अपनी गुप्त ऊर्जा प्रदान करे इसके लिए रस्सी को काटना चाहिए। इसी तरह नाभिक की ऊर्जा पाने के लिए उन अदृश्य बंधनों को तोड़ना चाहिए, जो कणों को एक दूसरे से जोड़े रखते हैं। ऐसा होने पर कण अलग-अलग दिशाओं में उड़ जायेंगे और उनकी ऊर्जा उनके चारों ओर के परिवेश को मिलेगी।

"भारी" तत्वों – यूरेनियम और प्लूटोनियम के नाभिक ही सबसे अधिक आसानी से टूटते हैं। विज्ञान की भाषा में इस टूटने को विखंडन कहते हैं।

हां, इन तत्वों को भारी इसलिए कहा जाता है कि इनके नाभिकों में बहुत से कण होते हैं। विखंडन के लिए इतना ही काफ़ी है कि नाभिक के "निशाने" पर कोई "गोली" अर्थात कण आ लगे। पता चला है कि सबसे अच्छी "गोलियां" न्यूट्रोन ही हैं। वे ही न्यूट्रोन, जिनसे नाभिक बनता है।

न्यूट्रोनों का "स्थायी आवास" नाभिक है। लेकिन "घरघुस्सू" न्यूट्रोनों के बीच कुछ "घुमक्कड़" भी होते हैं। वे नाभिक से निकलकर यूरेनियम के

 टुकड़े में घूमते रहते हैं। देर-सवेर ऐसा "घुमक्कड़" किसी दूसरे नाभिक से टकरा ही जाता है। इस टक्कर से नाभिक का विखंडन हो जाता है और वहां से अब दो न्यूट्रोन निकलते हैं। ये दोनों भी अनिवार्यतः दो और नाभिकों को तोड़ देते हैं। अब यूरेनियम के टुकड़े में चार "गोलियां" हो गईं। और बस सिलसिला शुरू हो गया ... एक के बाद एक नाभिक टूटते जाते हैं और अपनी गुप्त ऊर्जा छोड़ते जाते हैं। जितनी अधिक ऊर्जा होगी उतनी ही अधिक ऊष्मा। एक किलोग्राम यूरेनियम से उतनी ही ऊष्मा पाई जा सकती है, जितनी दो हज़ार टन कोयले को जलाने से।

ज़रा सोचो तो कितनी बढ़िया बात है यह! यूरेनियम से भरे एक-दो सीसे के कंटेनर ले आये और बस विशाल बिजलीघर के लिए साल भर के ईंधन का प्रबंध हो गया। इसीलिए परमाणु बिजलीघर ऐसे स्थानों पर बनाते हैं, जहां आस-पास कोयला, तेल या गैस न हो।

ऐसे स्टेशन में **परमाणु**, या सही-सही कहा जाये तो **नाभिकीय रिएक्टर** ही सबसे प्रमुख है। यह तले और ढकने वाला धातु का विशाल सिलंडर होता है – भीमकाय पतीले या बायलर जैसा ही। इस सिलंडर के अंदर यूरेनियम की सलाख़ें और पानी के पाइप होते हैं। बाहर, रिएक्टर के ढकने पर – तरह तरह के उपकरण लगे होते हैं। यूरेनियम की सलाख़ों में नाभिकों का विखंडन होता है, नाभिकीय ईंधन "जलता" है और पानी को ख़ूब गरम करता है।

पम्प इस गरम पानी को **भाप-जेनरेटर** में पहुंचाते हैं। भाप-जेनरेटर का अर्थ है भाप बनानेवाली मशीन।

भाप-जेनरेटर की संरचना सरल ही होती है: पाइप के अंदर पाइप। अंदर के पाइप में रिएक्टर का गरम पानी बहता है। बाहर के पाइप में उससे विपरीत दिशा में फ़्रिज़ में से आता ठंडा पानी। रिएक्टर के पानी से ऊष्मा ठंडे पानी को मिलती है। वह गरम होकर खौलने लगता है और भाप बन जाता है। यह भाप टर्बाइन की पंखुड़ियों पर पड़ती है और टर्बाइन घूमने लगती है।

अपनी ऊष्मा देकर रिएक्टर का पानी रिएक्टर में लौट आता है, फिर से गरम होता है और भाप-जेनरेटर में जाता है। इस तरह पानी जिस चक्र में घूमता रहता है उसे **पहला परिपथ** कहते हैं।

टर्बाइन को घुमाने के बाद भाप फ़्रिज़ में जाती है। वहां वह ठंडी होकर पानी में बदलती है। पानी फिर से भाप-जेनरेटर में जाता है और फिर से भाप बनता है ... पानी और भाप का यह दूसरा चक्र **दूसरा परिपथ** कहलाता है।

रिएक्टर, भाप-जेनरेटर और फ़्रिज़ के साथ **टर्बाइन परमाणु विद्युत संयंत्र** कहलाता है। इस संयंत्र को स्वचालित मशीनें और उनका आपरेटर व्यक्ति चलाता है।

ऐसे संयंत्र परमाणु बिजलीघरों और हिमभंजक जहाज़ों पर भी लगे होते हैं। बिजलीघरों में टर्बाइनें परमाणु ऊर्जा को विद्युत ऊर्जा में रूपांतरित करती हैं, तथा हिमभंजक पोतों की टर्बाइनें गति में। शक्तिशाली परमाणु विद्युत संयंत्रों की सहायता से हिमभंजक पोत समुद्र में जमी मोटी से मोटी बर्फ़ काट कर जहाज़ों के क़ाफ़िले के लिए रास्ता बनाता जाता है। अगस्त, १९७७ में सोवियत हिमभंजक पोत 'आर्कतिका' चारों ओर फैली अखंड बर्फ़ को तोड़कर उत्तरी ध्रुव तक पहुंचा। इससे पहले एक भी हिमभंजक पोत ऐसा नहीं कर पाया था।

यह सब पढ़कर यदि तुम हमसे दो प्रश्न पूछो तो हमें ज़रा भी आश्चर्य नहीं होगा।

पहला प्रश्न। दूसरे परिपथ का पानी ही क्यों उबलकर भाप बनता है? पहले परिपथ में भाप क्यों नहीं बनती?

दूसरा प्रश्न। दो परिपथों की ज़रूरत ही क्या है? सीधे रिएक्टर में ही भाप क्यों नहीं बना ली जाती? आख़िर वहां इसके लिए काफ़ी गर्मी होती है।

पहले प्रश्न का उत्तर देना मुश्किल नहीं है। पहले परिपथ में पानी इसलिए नहीं उबलता क्योंकि वह बहुत "दबाया गया" होता है, संपीडित होता है, और दाब जितना अधिक होता है, पानी को उबालने के लिए उतने ही अधिक तापमान की आवश्यकता होती है।

दूसरे प्रश्न का उत्तर देने के लिए हम दूर से बात शुरू करेंगे।

यूरेनियम यद्यपि बिल्कुल हौले-हौले "जलता" है, तो भी वह लोगों के लिए बहुत ख़तरनाक होता है। नाभिकों के विखंडन के समय बहुत से "टुकड़े" और कण बनते हैं, जो बड़ी तेज़ रफ़्तार से चारों दिशाओं में उड़ते हैं। कणों के इस प्रवाह को विकिरण कहते हैं। विकिरण सभी जीवों के लिए हानिकारक होता है। इसीलिए रिएक्टर के चारों ओर कंकरीट की मोटी-मोटी दीवारें बनाई जाती हैं। इन्हें जीव-सुरक्षा कहते हैं।

परमाणु विद्युत संयंत्र में दो जल परिपथ भी विकिरण से बचने के लिए ही बनाये गये हैं। पहले परिपथ का पानी विकिरण से दूषित होता है, और यूरेनियम की ही भांति इसमें से कण निकलते हैं। यदि इस "दूषित" यानी रेडियोधर्मी पानी को भाप में बदल दिया जाये, तो पाइप, पम्प और टर्बाइन – ये सब भी रेडियोधर्मी हो जायेंगे।

इसीलिए यह निश्चय किया गया कि रिएक्टर का रेडियोधर्मी पानी "दूसरे" पानी को गरम करे। पाइपों की दीवारें हानिकारक कणों के प्रवाह को बहुत कम कर देती हैं और दूसरे परिपथ का जल शुद्ध या लगभग शुद्ध रहता है। टर्बाइन और फ़्रिज़ के इर्द-गिर्द जीव-सुरक्षा बनाने की आवश्यकता नहीं रहती। लोग निश्चिंत होकर वहां काम कर सकते हैं।

सबसे पहले पियेर क्यूरी ने ही विकिरण का प्रभाव अपने ऊपर आज़माया। इस साहसी व्यक्ति ने कुछ घंटे तक रेडियम के टुकड़े के ऊपर हाथ रखे रखा। कुछ घंटे बाद हाथ की त्वचा जल गई और वहां घाव हो गया। पियेर क्यूरी इलाज करवाकर ठीक हो गया। और लोग समझ गये कि रेडियम और यूरेनियम के साथ सावधानी बरतनी चाहिए।

अब तो इंजीनियर सुरक्षा का अच्छा प्रबंध करना सीख गये हैं। इसलिए परमाणु बिजलीघर बिल्कुल ख़तरनाक नहीं रहे। इन्हें नगरों में ही बनाया जा सकता है। ये ताप बिजलीघरों से कहीं अधिक "साफ़" हैं, हवा को धूल, राख और धुएं से दूषित नहीं करते।

अब तो परमाणु बिजलीघरों के पास गरम पौधाघर भी बनाये जाते हैं, जिनमें सब्ज़ियां और फूल उगाये जाते हैं। लेनिनग्राद में फ़िनलैंड की खाड़ी के पास बना परमाणु बिजलीघर तो मछेरों की मदद करता है। टर्बाइनों को ठंडा करने वाला गुनगुना पानी खाड़ी में बहता है। इस पानी में शैवाल ख़ूब उगते हैं, जो मछलियों का आहार हैं। और जहां आहार होगा, वहां मछलियां भी होंगी।

परमाणु ऊर्जा एक और ज़रूरी काम में भी लोगों की मदद करती है। आजकल पृथ्वी पर मीठे जल की अधिकाधिक कमी होती जा रही है। उस मामूली जल की, जो हम पीते हैं, जिससे नहाते-धोते हैं। और इसका कारण यह नहीं है कि लोग ज़्यादा पानी पीने लगे हैं, या ज़्यादा नहाने-धोने लगे हैं। हमारे उद्योगों में अधिकाधिक जल लग रहा है। लोहा गलाना हो, या तेल की खुदाई करनी हो, या बिजली बनानी हो – हर काम के लिए पानी चाहिए। खेती के लिए भी बहुत पानी चाहिए। सोवियत संघ में ऐसे बहुत से इलाक़े हैं, जहां धूप ख़ूब होती है, ज़मीन उपजाऊ है, पर पानी नहीं है। इसलिए लोग वहां नहरें खोदते हैं और नदियों, झीलों का पानी प्यासे खेतों तक पहुंचाते हैं।

लेकिन पृथ्वी पर जल का प्रमुख भंडार हैं सागर और महासागर। उनमें तो, तुम जानते हो, पानी खारा होता है। इस पानी को काम में लाया जा सके, इसके लिए लोग समुद्री जल को मीठा बनाते हैं, उसका विलवणीकरण करते हैं। खारे पानी में से लवण निकालकर उसे मीठा बनाने का तरीक़ा बिल्कुल आसान है: खारे पानी को उबाला जाता है, उससे भाप निकाली जाती है। भाप को कंडेंसेटर में जमा करते हैं और ठंडा करते हैं। बस मीठा पानी बन जाता है। इसमें "स्वाद के लिए" थोड़ा सा लवण मिलाते हैं और लो जो चाहो करो – पानी पियो, नहाओ-धोओ, खेतों-बगीचों की सिंचाई करो। बायलर में जो तलछट जम जाती है, उसे साफ़ करके फिर से उसमें खारा पानी भर देते हैं। वैसे यह तलछट भी बड़े काम की चीज़ होती है। इसमें मैंगनीज़, सोडियम, पोटाशियम जैसे मूल्यवान तत्व होते हैं। यहां तक कि थोड़ा सा सोना भी होता है।

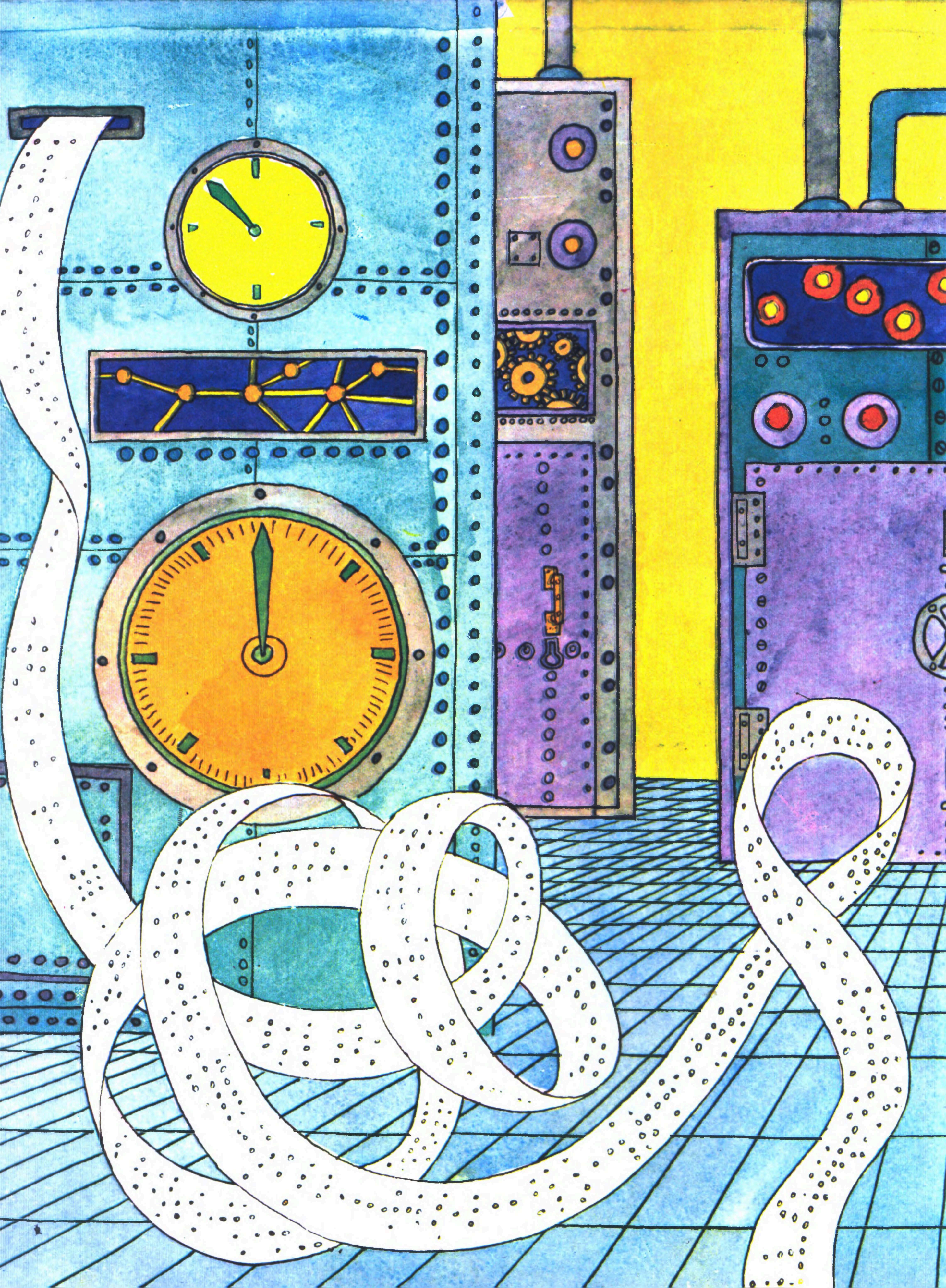
जल के विलवणीकरण के लिए बहुत ऊर्जा चाहिए। यह ऊर्जा ही परमाणु संयंत्रों मे मिल सकती है।

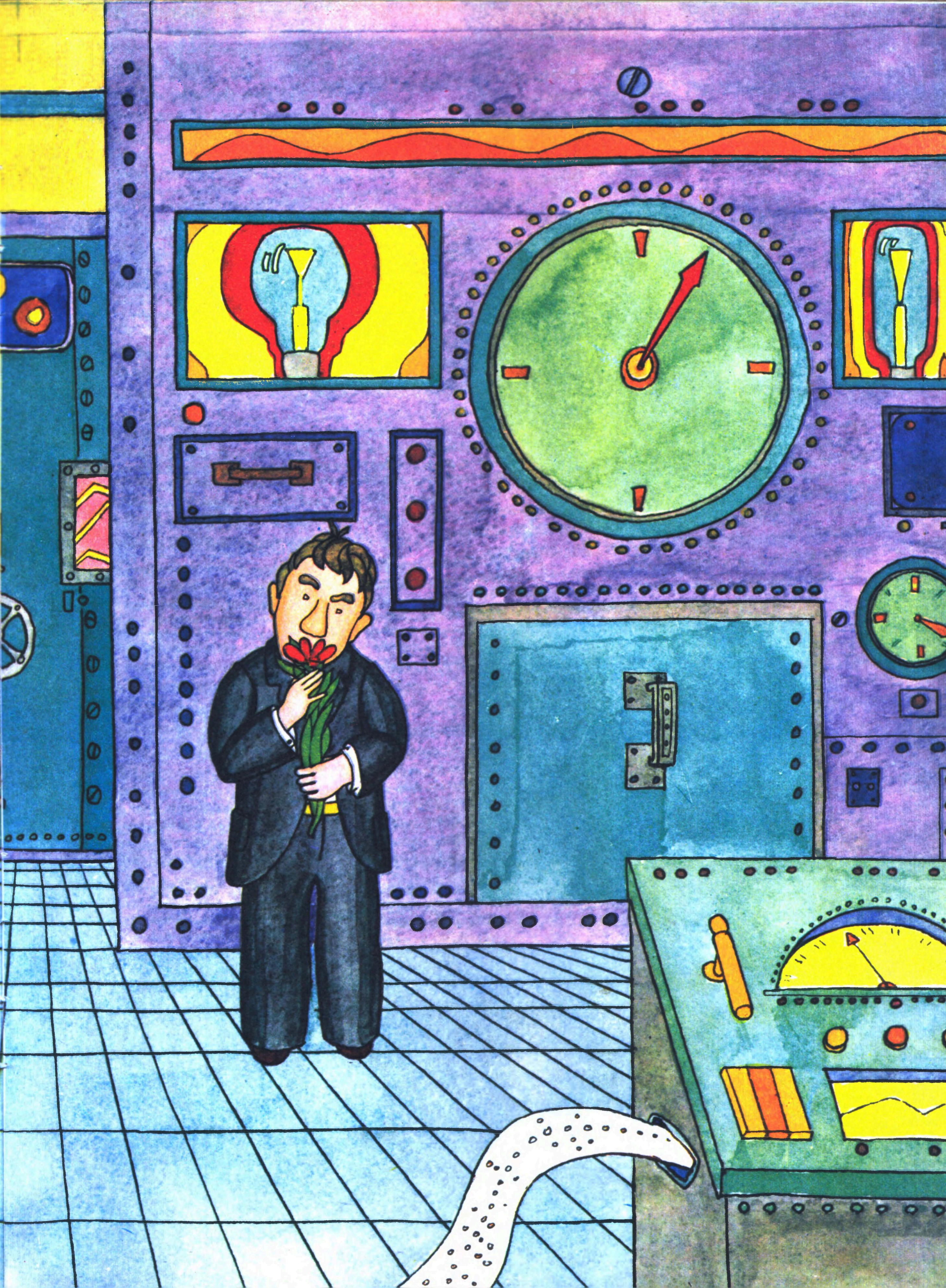
सोवियत संघ में कास्पियन सागर के पूर्वी तट पर निर्जल और तपते रेगिस्तान के बीच शेव्चेन्को नाम का एक नगर है। तुम सोचते होगे यह धूल भरा नगर होगा, कहीं कोई पेड़-पौधा, कोई हरियाली नहीं। तुम्हारा यह सोचना ग़लत है। इस नगर में पानी की कोई कमी नहीं है। नगर में हरियाली ही हरियाली है, अनगिनत फ़व्वारे हैं। और यह सब इन्सान के हाथों का कमाल है। शेव्चेन्को में परमाणु बिजलीघर बनाया गया है। इसकी प्रायः सारी ऊर्जा विलवणीकरण प्लांट में जाती है। इससे नगर को पेय जल मिलता है और उद्योगों को कच्चा माल – सोडियम, पोटाशियम, मैंगनीज़ के लवण तथा अन्य अनेक पदार्थ।

अभी तो परमाणु बिजलीघरों से ताप बिजलीघरों की तुलना में कहीं कम ऊर्जा पाई जाती है। लेकिन यही कोई बीस-तीस साल बाद परमाणु बिजलीघरों में ही सबसे अधिक बिजली बनने लगेगी। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि ताप बिजलीघरों में जलाया जानेवाला ईंधन – कोयला, तेल, गैस – कम होता जा रहा है। दूसरा यह कि इस ईंधन को जलाना अक़्लमंदी नहीं है। तेल, गैस और कोयले से बहुत सी काम की चीज़ें बनाई जा सकती हैं, जैसे कि कृत्रिम रेशा और इस रेशे से बनता है कपड़ा; ऐसी कृत्रिम सामग्रियां, जो इस्पात से भी अधिक मज़बूत होती हैं; कांच, मशीनों के लिए पुर्ज़े तथा बहुत सारी दूसरी चीज़ें।

सो वैज्ञानिकों का कहना है कि सन् २००० तक संसार में आधी से अधिक बिजली परमाणु बिजलीघरों से मिलेगी। और इस बिजली की लागत आजकल ताप बिजलीघरों से प्राप्त ऊर्जा की लागत का दसवां हिस्सा ही होगी।

सोवियत संघ में परमाणु ऊर्जा उद्योग का विकास बड़ी तेज़ी से हो रहा है। प्रत्येक पंचवर्षीय योजना अवधि में १० तक परमाणु बिजलीघर बनाये जाते हैं।





क्या पानी जल सकता है?

बच्चों की एक कहानी है कि कैसे दो लोमड़ियों ने "उठाई दियासलाई और समुद्र में आग लगाई"। तुम कहोगे: "यह सब बकवास है। पानी तो कभी जलता नहीं चाहे समुद्र का हो, या नदी का, या झील का। पानी से तो उलटे आग बुझाते ही हैं।" तुम्हारा यह कहना सही है, लेकिन पूरी तरह से नहीं।

यह बात तो ठीक है कि पानी नहीं जलता। लेकिन बड़ी दिलचस्प बात यह है कि पानी उन दो तत्वों से बना है, जिनमें से एक तत्व बहुत अच्छी तरह जलता है, और दूसरा इस दहन को ख़ूब अच्छी तरह बनाये रखता है। ये तत्व हैं – हाइड्रोजन और आक्सीजन। यही सारी बात नहीं है। "सामान्य" हाइड्रोजन में कभी-कभी ऐसे कण भी मिलते हैं, जो सामान्य कणों से दुगने भारी होते हैं। ऐसी हाइड्रोजन को भारी हाइड्रोजन या ड्यूटीरियम कहते हैं। बस इसके साथ ही ऊर्जा की प्रचुरता का लोगों का स्वप्न जुड़ा हुआ है।

बहुत पहले से लोग यह जानते हैं कि यदि भारी हाइड्रोजन के दो परमाणुओं को मिला दिया जाये, तो एक नये तत्व – हीलियम – का नाभिक बन जायेगा और बहुत सी ऊर्जा निकलेगी। एक किलोग्राम ड्यूटीरियम से उतनी ही ऊर्जा मिल सकती है, जितनी १.४ करोड़ किलोग्राम कोयले से – यानी इतना कोयला जलाने पर।

और तुम्हें पता है विश्व महासागर में कितना ड्यूटीरियम है? इतना कि मानवजाति के लिए यह ५० अरब साल के लिए काफ़ी होगा।

लेकिन दो नाभिकों को मिलाना बहुत मुश्किल है। इसके लिए ड्यूटीरियम को सूर्य के तापमान – २० करोड़ अंश सेंटीग्रेड – तक गरम करना चाहिए! इतने तापमान पर ही ड्यूटीरियम के नाभिकों का संलयन होगा और उनमें निहित ऊर्जा निकलेगी।

लेकिन ऐसे नारकीय ताप में तो प्रकृति में जो कुछ है वह वाष्पित हो जाता है, गैस

में – प्लाज़्मा में – बदल जाता है। अगर सब कुछ वाष्पित होता है, तो वह संयत्र भी, जिसमें ड्यूटीरियम को गरम किया जायेगा, वाष्पित हो जायेगा न? ज़रूर। तो इसका मतलब हुआ कोई बात नहीं बनेगी? नहीं, सौभाग्यवश ऐसा नहीं है।

बात यह है कि प्लाज़्मा इलेक्ट्रोनों, न्यूट्रोनों, नाभिकों के टुकड़ों और साबूत नाभिकों की खिचड़ी है। इन सब कणों और अंशों का विद्युत आवेश होता है। बस वैज्ञानिकों ने इसी का लाभ उठाने की सोची है। उन्होंने प्लाज़्मा को चुम्बकीय क्षेत्र में "पैक" करने का निश्चय किया है।

चुम्बकीय क्षेत्र क्या है, यह बताना आसान नहीं, पर ख़ैर, हम कोशिश करते हैं।

तुमने कभी न कभी तो चुम्बक हाथ में लिया ही होगा। धातु का यह टुकड़ा लोहे की छोटी-मोटी चीज़ों – कीलों, पिनों, बक्सुओं को अपनी ओर खींचता है और ख़ुद भी लोहे से अच्छी तरह चिपक जाता है।

बहुत सी किताबों में, जो तुमने पढ़ी होंगी, या शीघ्र ही पढ़ोगे, चुम्बक और लोहे के चूरे के प्रयोगों का वर्णन किया गया है। गत्ते के टुकड़े पर लोहे का चूरा डालो और गत्ते के नीचे चुम्बक लाकर कुछेक बार गत्ते पर उंगली से ठक-ठक करो। चूरे की ढेरी मानो जादुई छड़ी के इशारे पर बिखर जायेगी। उसके स्थान पर चूरे के सुंदर और सुस्पष्ट घेरे बन जायेंगे। इसमें कोई जादू-वादू नहीं है। बस चूरे पर **चुम्बकीय क्षेत्र** का प्रभाव पड़ा है और वह **बल-रेखाओं** में फैल गया है।

चुम्बक के इर्द-गिर्द बल-रेखाएं सदा होती हैं – चूरा चाहे हो या न हो। चूरा तो बस इन अदृश्य रेखाओं को प्रकट करता है, जैसे डिवेलपर फ़ोटो कागज़ पर बनी तस्वीर को प्रकट करता है। बल-रेखाओं की यह जाली ही आवेशयुक्त कणों को निश्चित पथ पर चलाती है, उन्हें किसी भी दिशा में उड़ने नहीं देती। चुम्बकीय मुट्ठी इधर-उधर उड़ते प्लाज़्मा की पतली रस्सी बट देती है। इस रस्सी और संयंत्र की दीवारों के बीच निर्वात बन जाता है और वे सही सलामत रहती हैं।

चुम्बकीय प्रेस एक और लाभदायक काम करती है। नाभिकों का संलयन होने लगे, इसके लिए उनकी संख्या बहुत अधिक होनी चाहिए। तब उन्हें

 एक दूसरे को ढूंढ़ने में आसानी रहती है। चुम्बकीय क्षेत्र नाभिकों को एक "झुंड" में जमा करता है, देर-सवेर वे टकराते हैं, उनका संलयन होता है और ऊर्जा निकलती है। परन्तु ...

परन्तु अभी तो यह आशा मात्र ही है। पृथ्वी पर अभी तक कोई भी ड्यूटीरियम को आवश्यक तापमान तक गरम करके उससे उपयोगी ऊर्जा नहीं पा सका है। हां, सोवियत वैज्ञानिकों ने 'तोकामाक' नाम के संयंत्र सोचे और बनाये हैं। नवीनतम 'तोकामाक' में २ करोड़ अंश सेंटीग्रेड का तापमान पा लिया गया है। यह आवश्यक तापमान का दसवां अंश ही है। फिलहाल तो 'तोकामाक' इतनी ऊर्जा पाते नहीं, जितनी व्यय करते हैं। लेकिन खोज और अनुसंधान तो जारी रहने ही चाहिए।

प्लाज़्मा को वश में करना अत्यंत कठिन है। वह यही ढूंढ़ता है कि चुम्बकीय जाल में कोई बिल्कुल छोटा सा ही छेद मिल जाये। और छेद मिला नहीं कि बाहर निकल गया। ड्यूटीरियम के नाभिक, जिनकी ख़ातिर चुम्बकीय जाल बनाया जाता है, चारों दिशाओं में उड़ जाते हैं और सब कुछ नये सिरे से शुरू करना पड़ता है।

इसलिए वैज्ञानिक नाभिक से ऊर्जा पाने के दूसरे रास्ते भी खोज रहे हैं। सोवियत भौतिकविज्ञानी, अकादमीशियन बासोव ने यह रास्ता सुझाया है। ड्यूटीरियम के परमाणुओं से संतृप्त भारी जल की छोटी सी बूंद को जमाया जाता है। सूई की नोक जितना बर्फ़ का टुकड़ा बनता है। इस गोले पर लेसर किरण डाली जाती है। लेसर – गैस भरी ट्यूब या क्रिस्टल होता है, जो उच्च ऊर्जा की प्रकाश किरण "दाग़ता" है। इस किरण के "प्रहार" से गोला उच्च तापमान तक गरम हो जाता है। ड्यूटीरियम के नाभिकों का संलयन होने लगता है और ऊर्जा निकलने लगती है। एक छोटा सा विस्फोट होता है। फिर किरण अगले निशाने पर जाती है, फिर उससे अगले पर ... एक के बाद एक विस्फोट होते हैं। हर अलग-अलग विस्फोट से तो थोड़ी ही ऊर्जा मिलती है, लेकिन सबको मिलाकर ...
वैज्ञानिकों ने हिसाब लगाया है कि पर्याप्त मात्रा में ऊर्जा पाने के लिए प्रति सेकंड नाभिकीय ईंधन वाले कम से कम बीस गोलों का विस्फोट होना चाहिए।

इन गोलों से निकली ऊष्मा द्रव लीथियम को गरम करेगी। लीथियम एक धातु है। लीथियम से पानी गरम होगा – भारी नहीं, साधारण पानी। पानी भाप में बदलेगा और भाप टर्बाइन में जायेगी।

अतिविशाल तापमान (२०,००,००,००० अंश सेंटीग्रेड का तापमान कोई मज़ाक की बात नहीं है!) के कारण नाभिकों के संलयन को तापनाभिकीय अभिक्रिया कहते हैं।

प्रकृति में (पृथ्वी पर नहीं) ये अभिक्रियाएं बिल्कुल सामान्य बात हैं। तापनाभिकीय ऊर्जा का इस्तेमाल लोग तब भी करते थे ,जब उन्हें यह ज्ञान नहीं था कि वे इन्सान हैं। अरबों वर्षों से तापनाभिकीय रिएक्टर हमारे सिर के ऊपर टंगा हुआ है – यह हमारा प्यारा सूरज ही है।

इसके गर्भ में कोटि-कोटि वर्षों से अनवरत तापनाभिकीय अभिक्रिया हो रही है और इन सभी वर्षों से पृथ्वी सूर्य से ऊर्जा पा रही है।

ऐसे ही प्राकृतिक रिएक्टर – तारे – सारे आकाश में फैले हुए हैं। बस वे हमसे इतने दूर हैं कि उनकी ऊर्जा हम तक प्रायः पहुंच ही नहीं पाती, असीम अंतरिक्ष में खो जाती है।

तापनाभिकीय अभिक्रिया न केवल इस बात में अच्छी है कि इससे ऊर्जा की प्रचुरता होगी। इसका दूसरा गुण है – स्वच्छता।

सम्भवतः तापनाभिकीय ऊर्जा को विद्युत ऊर्जा में रूपांतरित किया जायेगा। ऐसे स्टेशनों के लिए अभी कोई नाम नहीं सोचा गया है, लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि ये स्टेशन बनेंगे। और हमें बहुत अधिक समय तक प्रतीक्षा भी नहीं करनी होगी – बस दस-पंद्रह साल, ऐसा वैज्ञानिकों का ख़्याल है।

हाइड्रोजन के साथ एक और रोचक व महत्त्वपूर्ण योजना जुड़ी हुई है। सबके जाने-पहचाने पेट्रोल के स्थान पर इसका उपयोग करने की सोची जा रही है। इसके लिए कम से कम दो कारण हैं।

पहला कारण सभी जानते हैं – इंजनों में पेट्रोल जलाना फ़िज़ूलख़र्ची है। महान रूसी रसायनविज्ञानी द्मीत्री इवानोविच मेंदेलेयेव भी कहा करते थे कि तेल (या पेट्रोल) जलाने का अर्थ है नोटों से अंगीठी गरम करना। और

४२ यह सोलह आने सच बात है, जो आज ख़ास तौर पर स्पष्ट हो गई है। हम यह बता चुके हैं कि तेल से हज़ारों उपयोगी पदार्थ पाये जा सकते हैं। कपड़ों और औषधियों से लेकर स्वादिष्ट खाद्य पदार्थ तक। और हम हैं कि इस खनिज तेल को शोधित करके पेट्रोल, मिट्टी का तेल आदि बनाते हैं और न बन पाई क़मीज़ें, सूट, मशीनों के पुर्ज़े, दवाइयां और खाना जलाते हैं ...

दूसरा कारण। आज यह निश्चित रूप से ज्ञात है कि तेल पदार्थों के जलने से निकला धुआं हमारी पृथ्वी के वायुमण्डल को दूषित करता है। और जितना अधिक हम तेल जलाते हैं, उतना ही अधिक दूषण होता है। एक मोटरगाड़ी साल में एक टन हानिकारक पदार्थ हवा में छोड़ती है। इन पदार्थों का प्रकृति पर घातक प्रभाव पड़ता है, वे सूर्य की किरणों को रोकते हैं, बड़े नगरों में हवा दूषित करते हैं।

संसार में आज २५ करोड़ से अधिक मोटरगाड़ियां हैं, आकाश में लाखों विमान उड़ते हैं और समुद्रों में हज़ारों जहाज़ चलते हैं। इन मोटरगाड़ियों, विमानों और जलपोतों में से प्रत्येक धुआं छोड़ता है।

लेकिन लोगों के पास और कोई रास्ता नहीं है। तेल और पेट्रोल जितना अच्छा ईंधन और कोई नहीं है।

फ़िलहाल नहीं है। लेकिन बहुत सम्भव है कि ऐसा ईंधन बना लिया जायेगा। हाइड्रोजन ऐसा ईंधन बन सकती है। अठारहवीं सदी के रूसी वैज्ञानिक लोमोनोसोव को भी यह ज्ञात था कि हाइड्रोजन और आक्सीजन को मिला दिया जाये, तो पानी बनता है और ऊष्मा निकलती है।

अब वैज्ञानिकों और इंजीनियरों की इस विचार में ख़ास रुचि जागी है। अनेक वैज्ञानिकों का यह मत है कि हाइड्रोजन सबसे अच्छा ईंधन है। पहली बात सागरों-महासागरों में इसका अक्षय भंडार है। दूसरे, हाइड्रोजन जलाये जाने पर ग़ायब नहीं होती। आक्सीजन के साथ मिलकर इससे वही पानी बनता है। इसलिए हाइड्रोजन सबसे "स्वच्छ" ईंधन है। "हाइड्रोजन" इंजन की "चिमनी" से जल-वाष्प ही निकलेगी।

हाइड्रोजन ईंधन का उपयोग परिवहन के किसी भी साधन में, उद्योगों में, घरों को गरम करने के लिए तथा बिजली बनाने के लिए किया जा सकेगा।

आजकल हाइड्रोजन रासायनिक विधि द्वारा तेल से पाई जाती है। यह विधि खासी महंगी है और इससे हाइड्रोजन कम मिलती है। लेकिन एक दूसरी विधि भी है, इसे विद्युत-अपघटन कहते हैं।

पानी में से सशक्त विद्युत धारा गुज़ारी जाती है। वह पानी को हाइड्रोजन और दूसरे कणों में अपघटित करती है। हाइड्रोजन हल्की गैस है। वह ऊपर उठती है और पानी से बाहर निकलती है। यहां उसे "पकड़कर" सिलंडरों में जमा करते हैं।

विद्युत-अपघटन के लिए बहुत अधिक बिजली चाहिए। इसलिए हाइड्रोजन का उत्पादन बड़े पैमाने पर हम तभी कर सकेंगे, जब हमारे पास विद्युत ऊर्जा पर्याप्त मात्रा में होगी। और इसकी प्रचुरता तब होगी जब परमाणु और तापनाभिकीय बिजलीघर बड़े पैमाने पर काम करने लगेंगे।

सो देखो, कैसी शृंखला बनती है: तापनाभिकीय अभिक्रिया – विद्युत ऊर्जा – विद्युत-अपघटन – हाइड्रोजन, इंजनों के लिए ईंधन।

इंजीनियरों ने तो यह भी सोच लिया है कि यह शृंखला व्यावहारिक रूप में कैसी होगी। सागरों-महासागरों में प्लावी (तैरते) परमाणु बिजलीघर बनाये जायेंगे। उनसे मिली बिजली हाइड्रोजन पाने के काम आयेगी। प्राप्त हाइड्रोजन को पाइपलाइनों से थल पर भेजा जायेगा। वहां कारखानों में इस हल्की गैस को द्रवीभूत किया जायेगा और पाइपलाइनों से या सिलंडरों में उपयोग के स्थान तक भेजा जायेगा।

लेकिन असल में सब कुछ इतना आसान नहीं है। द्रव हाइड्रोजन कमरे के तापमान पर भी तेज़ी से वाष्पित होती है। इसलिए जिस टंकी में वह रखी हो उसे बंद रखना चाहिए, लेकिन उसे बिल्कुल बंद कर दें, तो टंकी में बहुत अधिक हाइड्रोजन वाष्प जमा हो जायेगी और टंकी फट जायेगी। इसलिए हाइड्रोजन खुली टंकियों में रखते हैं। इनका राज़ यह है कि ये केवल इतनी खुली होती हैं कि फटे न और कम से कम हाइड्रोजन बाहर निकले। यह क्षति न्यूनतम हो इसके लिए हाइड्रोजन को बहुत ठंडा करना चाहिए – शून्य से दो-ढाई सौ अंश सेंटीग्रेड नीचे तक। कहना न होगा कि ऐसे "थर्मस" बनाना बहुत मुश्किल है। ख़ास तौर से मोटरगाड़ियों के लिए, क्योंकि वे पेट्रोल की टंकियों से बड़े नहीं होने चाहिए।

आओ, अब पीछे एक नज़र डालें। जो हमने जाना है, उसे याद करें।

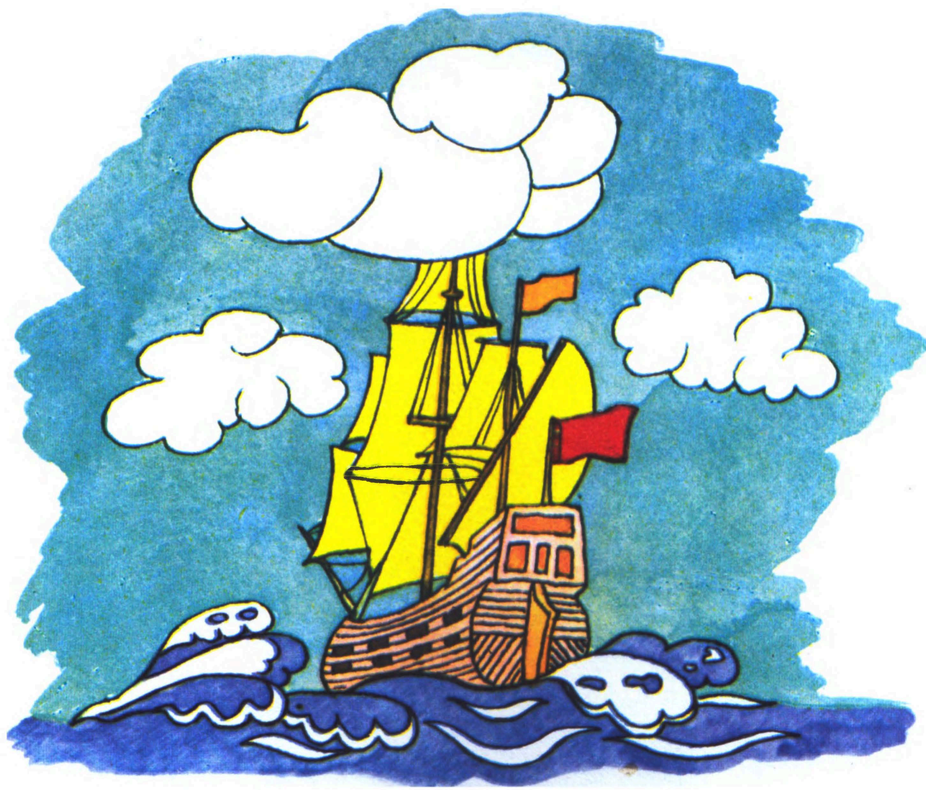
हमने ऊर्जा पाने की दो शृंखलाएं देखी हैं।

पहली शृंखला के आरम्भ में है – ईंधन। इसमें **रासायनिक** ऊर्जा निहित होती है। ईंधन जलाकर हम रासायनिक ऊर्जा को **ताप** ऊर्जा में रूपांतरित करते हैं। ईंधन शृंखला ही आजकल प्रमुख है।

दूसरी शृंखला के आरम्भ में है परमाणु नाभिक – **परमाणु** अथवा **नाभिकीय** ऊर्जा का भंडार। नाभिक का विखंडन करके हम नभिकीय ऊर्जा को भी **ताप** ऊर्जा में रूपांतरित करते हैं। निकट भविष्य में हम नाभिकों के संलयन से भी ऊष्मा पाने लगेंगे। नाभिकीय शृंखला आज प्रमुख नहीं है। लेकिन भविष्य में वह सबसे महत्वपूर्ण हो जायेगी।

इन दो शृंखलाओं की अनिवार्य कड़ी है – ऊष्मा, **ताप** ऊर्जा। ताप शृंखला में भी और नाभिकीय शृंखला में भी ऊष्मा के बिना काम चलाना लोगों को नहीं आता और वे शायद ही कभी यह सीख भी पायें।

लेकिन ये दो शृंखलाएं ही एकमात्र हों, ऐसी बात नहीं है। मानवजाति के पास ऊर्जा के दूसरे स्रोत भी हैं, और इसका अर्थ है कि दूसरी ऊर्जा शृंखलाएं भी हैं। इनमें से कुछ का उपयोग वे काफ़ी समय से कर रहे हैं, और कुछ का उपयोग करने का अभी रास्ता ही ढूंढ़ रहे हैं।







४८

जल ऊर्जा का उपयोग हम कैसे करते हैं ?

तुमने शायद कभी ऐसा नज़ारा देखा हो : लकड़ी की नली में से पहिये पर पानी गिरता है। पहिया घूमता है और बड़े से गोल चपटे पत्थर के पाट को घुमाता है। पाट के बीचोंबीच छेद होता है। उसमें अनाज डाला जाता है। घूमते पाट और नीचे के अचल पाट के बीच अनाज पिसता जाता है। आटे की धार बोरी में गिरती जाती है और चक्की वाला बोरे उठा-उठाकर रेहड़े पर लादता जाता है। यह मशहूर पनचक्की ही है, जो सदियों से मानवजाति का "पेट भरती" आई है।

या एक और दृश्य देखो। पानी के पहिये से लकड़ी की मोटी धुरी चली गई है। धुरी पर दांतेदार पहिये लगे हुए हैं। ये पहिये बरमे को घुमाते हैं, या हथौड़ा उठाते हैं या धौंकनी चलाते हैं। यह लोहारख़ाना है।

चक्की में आटा पीसा जाता था। लोहारख़ाने में जहाज़ों के लिए लंगर या घोड़ों के लिए नाल बनाये जाते थे। इन "कारख़ानों" में तरह-तरह के काम होते थे और वहां अलग-अलग तरह की मशीनें काम करती थीं। लेकिन काम के लिए बल यानी ऊर्जा ये एक ही स्रोत – जल – से पाती थीं।

जल की ऊर्जा गति में है। खड़े जल में कोई पहिया नहीं घूमेगा, चाहे कितनी भी चतुराई दिखा लो।

वैसे यह बात लोग सदा नहीं समझते थे। मध्य युग में वेनिस नगर में एक ख़ास तालाब था, जहां मिस्त्रियों के मुक़ाबले होते थे। वे निश्चल जल से काम लेने की कोशिश करते थे, लेकिन कोई बात नहीं बनती थी। अपनी असफलता के वे तरह-तरह के कारण बताते थे। कभी कहते पानी ज़्यादा ठंडा है, कभी कहते धूप बहुत तेज़ है। लेकिन कारण तो दूसरा ही था : पानी बहता जो नहीं था।

हमारी नदियां कहां से आती हैं और कहां जाती हैं ? वे ऊपर से नीचे की ओर बहती हैं। पर्वतों-टीलों से मैदानों में और अंततः सागर तक। लेकिन उन्हें गति कौन प्रदान करता है ? कौन सी शक्ति है वह, जो अपार जल राशि को सैकड़ों-हज़ारों किलोमीटर

नक बहाते हुए सागरों-महासागरों तक ले जाती है? इस प्रश्न का उत्तर भी ज्ञात है: गुरुत्व बल। आख़िर गिलास से बिखरा पानी हमेशा फ़र्श पर ही गिरता है।

लेकिन यह जल जो केवल ऊपर से नीचे ही बह सकता है, ऊपर पहाड़ों पर कैसे पहुंचता है? वह कौन सा शक्तिशाली पम्प है, जो इसे ऊपर चढ़ाता है? यह पम्प है सूर्य।

सूरज की किरणें पत्थर, मिट्टी और पेड़-पौधों को ही गरम नहीं करतीं। वे सागरों-महासागरों और झीलों-नदियों के पानी को भी गरम करती हैं। पानी की भाप वायुमण्डल में बहुत ऊपर उठती है। प्रति मिनट वह अपने साथ एक अरब टन पानी ले जाती है। जब भाप हवा की ठंडी परतों तक पहुंचती है तो वह फिर से पानी बन जाती है। पानी की बूंदें पृथ्वी की ओर बढ़ती हैं और वर्षा या हिम के रूप में पृथ्वी पर गिरती हैं। यहां ये छोटी-छोटी जल-धाराएं और नदियां बन जाती हैं और फिर से अपनी जलराशि समुद्र की ओर ले जाती हैं। बस चक्र पूरा हो जाता है।

इस भव्य गति को प्रकृति में जल का चक्र कहते हैं।

हज़ारों साल पहले की ही भांति आज भी जल मनुष्य के लिए काम कर रहा है। हां, आज वह केवल चक्की चलाने या लौहार की भट्ठी में आग तेज़ करने का ही काम नहीं करता। अब इसका प्रमुख कार्य है बिजली पैदा करना।

नदी पर बांध बांधा जाता है। बांध में कुछ पाइप लगाये जाते हैं। इन पाइप में कपाट और जल टर्बाइन लगायी जाती है। टर्बाइन विद्युत जेनरेटर से जुड़ी होती है।

पानी के रास्ते में बांध के रूप में रुकावट आने से पानी ऊपर चढ़ने लगता है। जितना ऊंचा उठता जाता है, उतनी ही अधिक ऊर्जा उसमें जमा होती जाती है। जब पाइप का कपाट खोला जाता है, तो पानी टर्बाइन की ओर बढ़ चलता है और भयावह वेग से टर्बाइन के फलक पर गिरता है। टर्बाइन घूमने लगती है। उसके साथ ही विद्युत जेनरेटर घूमता है और बिजली बनती है।

बांध, टर्बाइनें और जेनरेटर – यह सब मिलकर **पनबिजलीघर** कहलाता है।

सोवियत संघ में बहुत सी भरी-पूरी, विशाल नदियां हैं। सोवियत संघ के यूरोपीय भाग में वोल्गा, द्नेप्र, कामा, आदि सभी बड़ी नदियां बिजली पैदा

 करती हैं। वोल्गा पर बिजलीघरों की पूरी शृंखला बनाई गई है। द्नेप्र नदी पर भी कई बिजलीघर हैं।

साइबेरिया की नदियों में अभी भी अप्रयुक्त ऊर्जा बहुत अधिक है। इसलिए इन विशाल नदियों जैसे ही शक्तिशाली बिजलीघर वहां बनाये जा रहे हैं। संसार का सबसे बड़ा पनबिजलीघर क्रास्नोयार्स्क नगर के पास येनिसेई नदी पर बनाया गया है। येनिसेई पर ही अब इससे भी अधिक शक्तिशाली सयानो-शूशेन्स्काया पनबिजलीघर बन रहा है। इसके लिए स्थान ऊंचे-ऊंचे खड़े किनारों वाले दर्रे में चुना गया है। कंक्रीट के ऊंचे बांध से येनिसेई का रास्ता रोक दिया गया है। इस बांध में दस टर्बाइनें और जेनरेटर लगाये जायेंगे।

पनबिजलीघरों के निर्माण पर ख़र्चा बहुत आता है। लेकिन इनसे जो ऊर्जा प्राप्त होती है, वह सबसे सस्ती होती है, क्योंकि इसका स्रोत "मुफ़्त का" सूरज है। याद है न हमने सौर "पम्प" की चर्चा की थी?

परन्तु पता है, जल को अपनी ऊर्जा केवल सूर्य ही नहीं देता। चंद्रमा भी यही काम करता है। नहीं, वह जल को गरम नहीं करता, भाप को आकाश में नहीं उठाता। वह तो अपने गुरुत्व बल से काम करता है।

सुविदित है कि सभी खगोलीय पिंड एक दूसरे को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। गुरुत्व बल पिंड के भार या यह कहिये कि द्रव्यमान पर निर्भर होता है। द्रव्यमान जितना अधिक होता है उतने ही अधिक बल से वह पिंड अपने चारों ओर के सभी पिंडों को अपनी ओर आकर्षित करता है। पिंड एक दूसरे से जितना अधिक दूर होते हैं, गुरुत्वाकर्षण उतना ही कम होता है और जितना पास होते हैं, गुरुत्वाकर्षण उतना ही अधिक होता है।

पृथ्वी का निकटतम खगोलीय पिंड चंद्रमा काफ़ी बल से पृथ्वी को और उस पर जो कुछ है उसे अपनी ओर आकर्षित करता है। चंद्रमा पृथ्वी के किसी एक बिंदु के ऊपर स्थित नहीं, बल्कि उसकी परिक्रमा करता है। अपने पथ पर वह उन वस्तुओं को "ऊपर उठाता" है, जिनके ऊपर से गुज़र रहा होता है। स्थल पर इसका आभास नहीं होता। लेकिन समुद्रों में लहर उठती है, और यह लहर काफ़ी ऊंची होती है। दिन-रात में दो बार बिल्कुल ठीक समय पर वह सभी सागरों-महासागरों से

गुज़रती है। अथाह जलराशि ऊपर उठती है और फिर नीचे आती है, जिससे तटों पर ज्वार-भाटा आता है।

"चांद्र" लहरों में अपार ऊर्जा होती है – संसार के सभी पनबिजलीघरों में जितनी विद्युत ऊर्जा बनती हैं, उससे सौ गुनी अधिक। हां, सागरों-महासागरों में फैली इस ऊर्जा को "बटोरना" असम्भव है। आखिर कहीं प्रशांत महासागर के बीचोंबीच तो पनबिजलीघर बनाया नहीं जा सकता। लेकिन इसकी कुछ "खुरचन" हासिल की जा सकती है।

इस ऊर्जा को "बटोरने" का तरीक़ा यह है। तंग मुहाने वाली खाड़ी खोजी जाती है। मुहाने पर बांध बनाया जाता है और उसमें टर्बाइनें व जेनरेटर लगाये जाते हैं। ज्वार और भाटे के समय पाइपों से पानी टर्बाइनों तक पहुंचता है और उन्हें घुमाता है।

सामान्यत: पानी तीन-चार मीटर ऊंचा उठता है। लेकिन कुछ स्थानों पर ज्वार की ऊंचाई दस मीटर तक होती है। और लहर जितनी ऊंची होती है, उतने ही अधिक ज़ोर से पानी टर्बाइनों के फलकों पर प्रहार करता है यानी उतनी ही अधिक ऊर्जा देता है। सोवियत वैज्ञानिकों का मत है कि ओख़ोत्स्क सागर के उत्तरी "कोने" में, जहां पेंजिना नदी इसमें गिरती है, क्रास्नोयार्स्क पनबिजलीघर से तिगुनी क्षमता का ज्वार बिजलीघर बनाया जा सकता है।

सागरों-महासागरों के तटों पर पहले बिजलीघर फ़्रांस और सोवियत संघ में बना लिये गये हैं। कोला प्रायद्वीप पर बने बिजलीघर की क्षमता अधिक नहीं है। पर सोवियत इंजीनियर और वैज्ञानिक उत्तरी सागरों के तटों पर ज्वार बिजलीघरों के निर्माण की नई परियोजनाएं तैयार कर रहे हैं। उनसे देश के उत्तरी भागों को ऊर्जा मिलेगी, जहां वर्ष प्रति वर्ष इसकी मांग बढ़ रही है।

तुम्हें याद है हमने मध्ययुगीन कारीगरों का ज़िक्र किया था, जो खड़े पानी से काम कराने की कोशिशें करते थे? और कैसे उनके सारे प्रयास असफल रहते थे? अभी हाल ही में सोवियत वैज्ञानिकों ने इसका भी उपाय सोच लिया है।

समुद्र या बड़ी झील में बहुत गहराई पर विशाल सिलंडर उतारा जाता है। इस

सिलंडर के ढकने में एक या कुछेक पाइप लगाये जाते हैं, जो कपाट से बंद होते हैं। पाइपों में टर्बाइनें और जेनरेटर लगे होते हैं। कपाट खोलने पर पानी पाइपों में जाता है और वहां टर्बाइनों को घुमाता है। टर्बाइनें तब तक काम करेंगी जब तक कि सिलंडर पूरा भर नहीं जाता। इसके बाद वे रुक जायेंगी।

तुम पूछोगे, ऐसे स्टेशन की क्या ज़रूरत, जो सारा समय काम नहीं कर सकता? ज़रूरत यह है: बिजलीघर वाले जानते हैं कि सुबह के समय, जब कारख़ानों में मशीनें चालू की जाती हैं और शाम को जब सब बत्तियां, टेलीविज़न जलते हैं, तो ऊर्जा की मांग बहुत अधिक होती है और रात को बहुत कम।

सुबह-शाम स्टेशनों पर जेनरेटर अपनी पूरी क्षमता से काम करते हैं। तो भी ऊर्जा पूरी नहीं पड़ती। और रात को अधिकांश जेनरेटर बंद रहते हैं। उनकी ऊर्जा की किसी को आवश्यकता नहीं होती। अब ये जलगत स्टेशन कठिन समय में पृथ्वी पर बने स्टेशनों की मदद करेंगे। लेकिन इसके लिए इन्हें दिन में काम करने को तैयार करना चाहिए – सिलंडरों में से पानी निकालना चाहिए। ऐसा रात को बिजली के पम्पों से आसानी से किया जा सकता है, रात को तो बहुत सी बिजली फ़ालतू होती है। जलगत स्टेशन एक तरह से विद्युत ऊर्जा "स्टोर" करके रखेंगे।

यह तो तुम अब तक समझ ही गये होगे कि ईंधन भी और जल भी स्वयं ऊर्जा पैदा नहीं करते। वे तो बस सूर्य की ऊर्जा के "भंडारी" हैं।

पर क्या इनके बिना काम नहीं चल सकता? क्या हम सीधे सूर्य से ऊर्जा नहीं ले सकते? ले सकते हैं। तो सुनो, कैसे यह किया जाता है।











सौर किरणों की ऊर्जा

"हां, सदा रहे सूरज" – एक बाल गीत में ये शब्द हैं। कितना अच्छा होता है, जब सूरज निकला होता है, ख़ूब धूप होती है, जब धूप सेंकी जा सकती है, मीठे-मीठे सेब और लाल-लाल तरबूज़ खाये जा सकते हैं।

लेकिन सूरज इसीलिए नहीं निकलता कि हम धूप सेंकें। यह तो मामूली सी बात है। असल बात तो दूसरी है।

सूरज की ऊर्जा पृथ्वी पर सारे जीवन का स्रोत है। सूरज की किरणों के स्पर्श से कोंपलें फूटती हैं, फल पकते हैं, बालियों में दाने पड़ते हैं, भीमकाय वृक्ष आकाश की ओर सिर उठाते हैं, धरती पर हरी-हरी घास की चादर बिछती है।

लेकिन रेगिस्तानों में, जहां पानी नहीं होता, चिलचिलाती धूप से रेत तपती है, पत्थर तक चटख जाते हैं। वहां सूरज की जीवनदायी ऊर्जा विनाशकारी और अनावश्यक होती है।

वैसे "फ़ालतू" सौर ऊर्जा रेगिस्तानों में ही नहीं होती। आख़िर सूरज की हर किरण तो अपना घास का तिनका या पत्ती नहीं पाती। धूप से नगरों की सड़कें और मकानों की छतें भी तपती हैं। सो लोग अरसे से यह सोचते आये हैं कि कैसे वे इस "फ़ालतू" ऊर्जा का सदुपयोग करें।

उन्होंने भांति-भांति की युक्तियां बनाई हैं। इनमें सबसे सरल है – आवर्धक लेंस। हां, वही जो तुमने भी हाथ में लेकर देखा होगा। वह सूर्य के प्रकाश को एक पतली किरण में जमा करता है और इस किरण से कागज़ या लकड़ी के टुकड़े से धुआं निकलने लगता है, और, छिपाना क्या, कभी-कभी तुम्हारी अपनी निकर से भी। लेंस जितना बड़ा होता है, धूप की यह "सूई" उतनी ही तेज़ होती है। निकर जलाने के लिए तो छोटा.सा लेंस ही काफ़ी है। पर साफ़ दुपहरी में केतली भर पानी उबालने के लिए लेंस ट्रैक्टर के पहिये जितना बड़ा होना चाहिए। और बाल्टी या ड्रम भर पानी उबालने के लिए? इसके लिए तो बहुत ही बड़े लेंस चाहिए।

हां, यह सौर ऊर्जा को "पकड़ने" की कोई बहुत अच्छी विधि नहीं है।

तुमने उन सौर बैटरियों के बारे में सुना होगा, जिनसे अंतरिक्ष यानों को ऊर्जा मिलती है। और हो सकता है तस्वीरों में देखा भी हो। अंतरिक्ष यानों पर लगे जालीदार पंख सौर बैटरियां ही हैं। इन्हें विशेष सामग्री – अर्धचालकों – से बनाते हैं। जब सौर किरणें इनसे टकराती हैं तो इनमें बिजली पैदा होती है।

यह बिजली एकुमुलेटरों में जमा की जाती है, प्रायः वैसे ही एकुमुलेटरों में जैसे कारों में लगे होते हैं। सो अंतरिक्ष यान पर सदा बिजली होती है।

फ़िलहाल सौर बैटरियां बहुत अच्छी तरह काम नहीं करती हैं। उन तक जो सौर ऊर्जा आती है उसके केवल दसवें भाग को ही वे विद्युत ऊर्जा में बदलती हैं। इसलिए इनका उपयोग केवल अंतरिक्ष में ही किया जाता है, जहां ऊर्जा पाने का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

लेकिन अगर ये बैटरियां अब से केवल तीन गुना ही अच्छा काम करने लगें तो पृथ्वी पर भी इन्हें इस्तेमाल किया जा सकेगा। सौर बिजलीघर शायद रेगिस्तानों में ही बनाये जायेंगे। तपी रेत पर अर्धचालकों की विशाल "चादर" बिछा दी जायेगी। सौर किरणें उसे अपनी ऊर्जा देंगी, जो विद्युत धारा बन जायेगी। इसे स्टेशन पर जमा करके बिजली के तारों से घरों, स्कूलों, मिलों-कारख़ानों तक पहुंचाया जायेगा।

सूरज हमें जो ऊर्जा भेजता है, वह सारी की सारी पृथ्वी की सतह तक नहीं आ पाती। तुम जानते ही हो कि पृथ्वी के चारों ओर घना वायुमण्डल है, वायुमण्डल में बादल हैं, कारख़ानों की चिमनियों से निकली राख है, धूल के कण हैं। इसलिए वैज्ञानिक अब अर्धचालकों वाला बिजलीघर अंतरिक्ष में बनाने की तैयारी कर रहे हैं। वहां सौर किरणों के लिए कोई बाधा नहीं है। इस स्टेशन पर बनी बिजली को सशक्त रेडियो किरणों का रूप प्रदान करके पृथ्वी पर भेजा जायेगा। यहां ये किरणें फिर से विद्युत धारा में बदल जायेंगी।

वैज्ञानिक एक और सौर-परियोजना पर भी विचार कर रहे हैं। यह परियोजना स्वयं प्रकृति ने "सुझाई" है।

यह तो तुम जान ही गये हो कि पेड़-पौधों और जीव-जंतुओं के लिए ऊर्जा का स्रोत सूर्य है। पेड़ों की पत्तियां और घास के तिनके सौर किरणों को ग्रहण करते हैं। उनके प्रभाव से वनस्पतियों के ऊतकों में एक पदार्थ दूसरे पदार्थों में रूपांतरित हो जाते हैं। इन्हीं में ऊर्जा का संचय होता है। लेकिन अब यह सौर ऊर्जा नहीं, रासायनिक ऊर्जा होती है। जब हम रोटी खाते हैं और दूध पीते हैं, तो इसी ऊर्जा का उपयोग करते हैं। आख़िर खाना लोगों के लिए ऊर्जा का स्रोत ही है। वैसे ही जैसे वनस्पतियों के लिए ऊर्जा का स्रोत सूरज है।

कितना अच्छा हो अगर हम सजीव कोशिकाओं से सौर ऊर्जा को रासायनिक ऊर्जा में बदलना सीख लें। और फिर इन सजीव कोशिकाओं से अरबों गुना शक्तिशाली "कोशिका-कारख़ाना" बना लें।

तब रेगिस्तानों में और दूसरी जगहों पर भी, जहां धूप काफ़ी होती है, आश्चर्यजनक ऊर्जा खेत बन सकते हैं। ज़रा कल्पना करो: रेगिस्तान की रेत पर चिलचिलाती धूप में पारदर्शी पाइप बिछे हुए हैं। पाइपों में "सजीव", या जैसे कि रसायनविज्ञानी कहते हैं, कार्बनिक घोलों की नादियां बहती हैं। वैसे ही घोलों की जैसे वनस्पतियों की कोशिकाओं में होते हैं। ये घोल सौर किरणों को ग्रहण करते हैं, और इनमें रासायनिक ऊर्जा से भरे नये पदार्थ बन जाते हैं। पम्प इन घोलों को कारख़ानों में पहुंचाते हैं। वहां

इन्हें फ़िल्टरों से "छाना" जाता है और ऊर्जा युक्त पदार्थ अलग किये जाते हैं। "फ़सल बटोरकर" घोल में आवश्यक पदार्थ डाले जाते हैं और फिर से उसे ऊर्जा जमा करने भेज दिया जाता है।

लोग सदियों से प्रायः ऐसा ही करते आये हैं। वे ज़मीन में बीज बोते हैं, फ़सल की देखभाल करते हैं और धीरजपूर्वक इस बात का इंतज़ार करते हैं कि कब सूरज से गर्मी पाकर पौधा बड़ा हो जाये, पक जाये और उसकी कोशिकाओं में पौष्टिक पदार्थ जमा हो जायें। फ़सल काटकर अगली बुआइयों के लिए बीज जमा किये जाते हैं। और फिर या तो ऊपर का हिस्सा – गेहूं, मकई के दाने, टमाटर, या फिर नीचे का हिस्सा – आलू, गाजर, चुकंदर खाते हैं। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं इनसे लोग ऊर्जायुक्त पदार्थ पाते हैं।

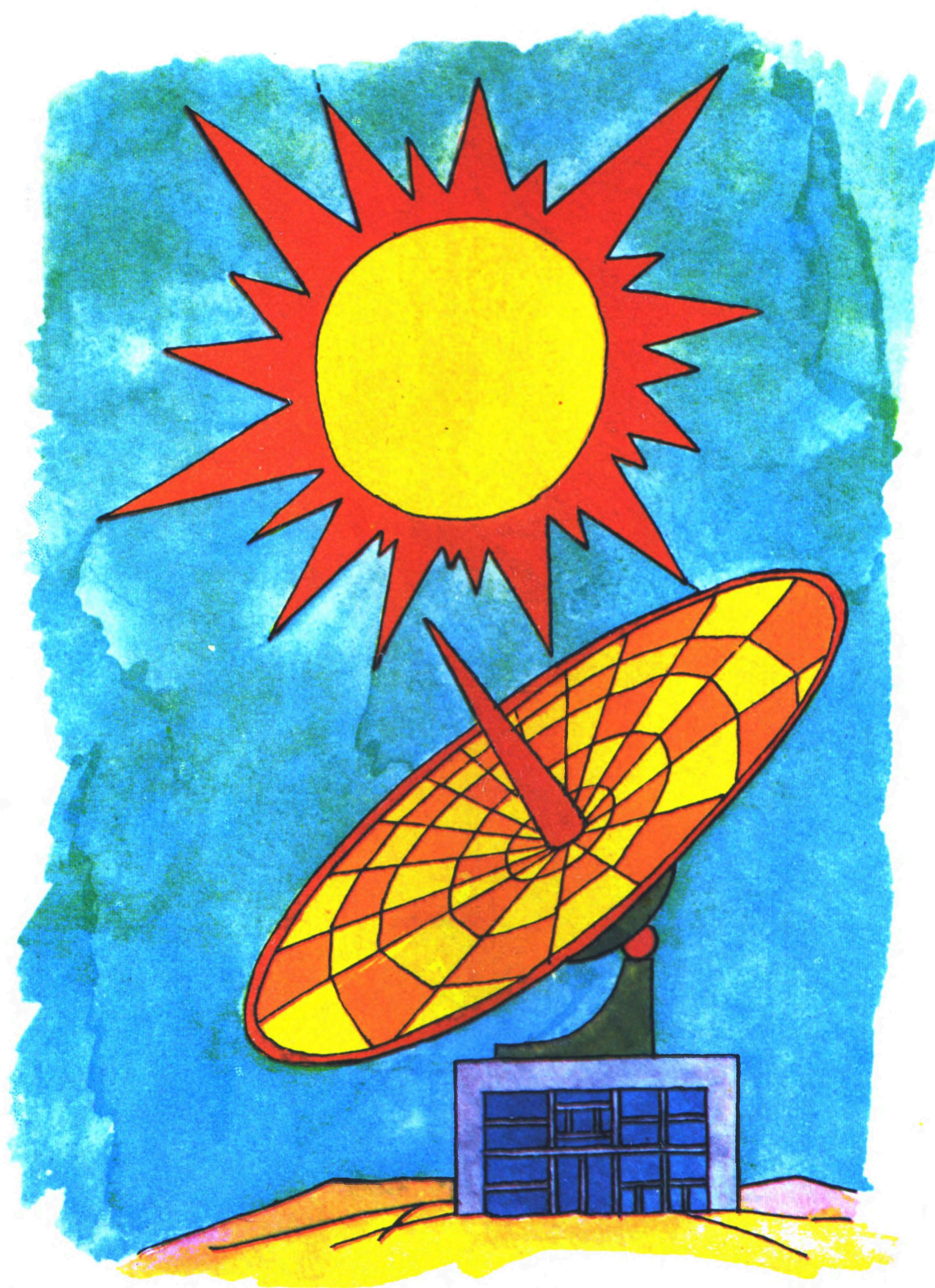
कृत्रिम "सौर खेतों" के लिए बहुत जगह की ज़रूरत होगी। और इसकी पृथ्वी पर कमी नहीं है। अफ़्रीका में सहारा, एशिया में गोबी, सोवियत संघ में क़ाराक़ुम रेगिस्तान हैं।

क्या इन "सौर खेतों" से लोग काफ़ी ऊर्जा पायेंगे? हां, काफ़ी – अभी हम जितना ईंधन जलाते हैं, उस सारे से प्राप्त ऊर्जा से साठ गुनी अधिक।

इसके अलावा ताप और परमाणु ऊर्जा के स्रोतों में सौर ऊर्जा का स्रोत जुड़ जाने से प्रकृति को कोई क्षति नहीं पहुंचेगी। इससे वायुमण्डल, जल और मिट्टी दूषित नहीं होंगे।

गरम स्थानों से ठंडे स्थानों को ऊर्जा पहुंचाकर लोग जलवायु नियंत्रित कर सकेंगे और हमारी पृथ्वी पर जीना आज से अधिक सुविधाजनक हो जायेगा।

बड़ा प्रलोभन है इस काम में। लेकिन हो सकता है यह सब कपोलकल्पना ही हो? फ़िलहाल तो ऐसा ही है। लेकिन वैज्ञानिक काम कर रहे हैं। और यदि उन्होंने काम को गम्भीरता से हाथ में ले लिया है तो सौर खेत अवश्य ही बन जायेंगे।




10



६४ बिजलीघर का बायलर – पृथ्वी

" 'पायोनियर' तारायान के संचालन पट्ट पर लाल बत्ती जल उठी और तुरन्त ही असाधारण सूचना का भोंपू बज उठा। ड्यूटी पर स्थित पायलट ने यान के कम्प्यूटर के साथ सम्पर्क का बटन दबाया। भावहीन इलेक्ट्रोनिक स्वर बोला : 'हमारे पथ पर सामने अज्ञात खगोलीय पिंड है। दूरी डेढ़ पैरसेक। पिंड दो लाख किलोमीटर व्यास के तारे के गिर्द गोलाकार परिक्रमा में घूम रहा है। प्राप्त सूंचना की जांच आरम्भ कर रहा हूं ...' पायलट ने माइक्रोफ़ोन का बटन दबाया और जल्दी से कहा : 'कमांडर कृपया केबिन में पधारें ...' अज्ञात पिंड, रहस्यमय तारा। अभियान दल एक ऐसे संसार से मिलने जा रहा था, जिसके बारे में कोई कुछ नहीं जानता था ..."

भविष्य की अंतरिक्ष उड़ानों के बारे में ऐसा कुछ न कुछ अवश्य पढ़ने को मिलता है : नये ग्रहों की खोज, जहां घास बैंगनी होती है और आकाश काला, ऐसे तारों की खोज, जिनमें रहस्यमय झिलमिल होती है। और ऐसी पुस्तकें पढ़ते हुए लगता है कि सारे रहस्य अंतरिक्ष में ही हैं। जबकि एक बहुत महत्त्वपूर्ण और हो सकता है सबसे महत्त्वपूर्ण रहस्य हमारे पैरों तले – पृथ्वी के गर्भ में – छिपा हुआ है।

लोग पृथ्वी से सैकड़ों किलोमीटर ऊपर पहुंचने में सफल रहे हैं। वे चंद्रमा की यात्रा कर आये हैं, उन्होंने मंगल और शुक्र ग्रहों पर स्वचालित स्टेशन भेजे हैं। लेकिन पृथ्वी के गर्भ में वे गहरे नहीं पैठ सके हैं। कुछ स्थानों पर ही वे धरातल से तेरह-चौदह किलोमीटर की गहराई तक झांक सके हैं। लेकिन इससे अधिक गहराई पर क्या हो रहा है? और पृथ्वी के केन्द्र में क्या हो रहा है?

पृथ्वी सख़्त छिलके वाले अखरोट जैसी है – छिलका भूपर्पटी है और उसके अंदर गिरी परितप्त नाभिक है। वहां तापमान धमन भट्ठी के तापमान से अधिक है। इसका मतलब है कि वहां सभी कुछ पिघला हुआ है। सतह के पास आते हुए तापमान कम होता जाता है। तो भी पच्चीस किलोमीटर की गहराई पर भी यह बहुत अधिक है – छह सौ अंश सेंटीग्रेड। पिघला पदार्थ अपार बल से "छिलके" पर ज़ोर डालता है, मानो उसे तोड़ डालना चाहता हो, और दरारों में से ऊपर उठता है। इसके रास्ते में यदि कहीं पानी होता है, तो वह तुरन्त ही उबलकर भाप बन जाता है और ज़मीन में से गरम सोते फूटते हैं।

पानी गरम करने और उबालने के लिए ही लोग अमूल्य ईंधन बड़ी मात्रा में ख़र्च करते हैं। और यहां पाइप लगाओ और सीधे नगरों-देहातों तक गरम-गरम पानी ले आओ। कई जगहों पर ऐसे ही किया जाता है।

इसके अलावा भूमिगत भाप और गरम पानी बिजलीघरों को पहुंचाया जाता है। पाइपों से होती हुई भाप टर्बाइनों तक जाती है और उन्हें घुमाती है, इस तरह बिजली बनती है। बस वैसे ही जैसे आम ताप बिजलीघरों में। अंतर केवल इतना है कि इन बिजलीघरों में भाप बनानेवाले बायलर लगाने की ज़रूरत नहीं होती, वे तो भूगर्भ में होते ही हैं। ऐसे बिजलीघरों को **भूताप बिजलीघर** कहते हैं।

सोवियत संघ में पहला ऐसा स्टेशत कमचात्का प्रायद्वीप पर बनाया गया। १९६६ में इससे मछेरों की बस्ती ओज़ेरनया को बिजली और गरम पानी मिलने लगा। गरम पानी मकानों को गरम करने के काम आता है, इसके अलावा पौधाघरों में इसकी मदद से बारहों महीने सब्ज़ियां उगाई जाती हैं।

दूसरे देशों में भी ऐसे स्टेशन बनाये जा रहे हैं। हाल ही में फ़्रांस की राजधानी पेरिस के ऐन नीचे ही गरम पानी की पूरी झील का पता चला है। अब वैज्ञानिक यह सोच रहे हैं कि इस पानी का उपयोग किस तरह करना बेहतर रहेगा – इससे नगरवासियों के मकान गरम किये जायें या बिजलीघर में बिजली पैदा करने के लिए इसका उपयोग किया जाये।

भूमिगत बायलरों का उपयोग करने के लिए गरम सोते या झीलें ढूंढ़ना ज़रूरी नहीं है। इंजीनियर कहते हैं कि हम इन्हें स्वयं बना सकते हैं।

ज़मीन में दो बहुत गहरे कूप खोदे जाते हैं और धरातल के बहुत नीचे उन्हें एक दूसरे से जोड़ दिया जाता है। एक कूप में से ठंडा पानी गरम संस्तरों तक भेजा जाता है, दूसरे कूप में से गरम पानी और भाप ऊपर निकलते हैं।

भूमिगत ऊष्मा तो सभी जगह है, संसार के हर कोने में। मास्को के नीचे भी और सहारा के नीचे भी, और उत्तरी इलाक़ों – टुंड्रा – में भी। और टुंड्रा में तो, जैसा कि एक गाने में कहा जाता है, "बारह महीने जाड़े के होते हैं, बाक़ी गर्मियों के", सो भूगर्भ की ऊष्मा वहां बहुत ही उपयोगी हो सकती है। वैसे तो यह ऊष्मा उस ऊर्जा का रत्ती भर हिस्सा ही है, जो पृथ्वी के नाभिक में है। यदि लोग उस तक पहुंच पायें, तो फिर वे हज़ारों साल तक चैन से काम कर सकते।

लेकिन ऐसा करना अंतरिक्ष में जाने से कहीं अधिक कठिन है। अभी तो लोग कूपों की मदद से ही भूमिगत गहराइयों में "झांक" रहे हैं। ये कूप विशाल बरमों से

खोदे जाते हैं। कुछेक किलोमीटर लंबे फ़ौलादी पाइप, जिनके आगे यांत्रिक दांत – बरमा – लगा होता है, धीरे-धीरे घूमते हैं और एक-एक मीटर करके नीचे बढ़ते जाते हैं। अधिक गहराई पर पाइपों का लंबा स्तम्भ अपने ही वज़न से टूट जाता है। भूमिगत यात्राओं के लिए तो कोई बिल्कुल भिन्न उपाय सोचना पड़ेगा। हो सकता है कोई नया यान – भूगर्भयान।

यह देखकर कि छछूंदर किस तरह ज़मीन में बिल खोदता है, सोवियत वैज्ञानिकों ने एक भूगर्भयान बनाया है। यह तेज़ दांतों से ज़मीन को खोदता है, फिर सिर घुमाते हुए उसे अपने तले दबाता जाता है और जल्दी-जल्दी आगे बढ़ता है।

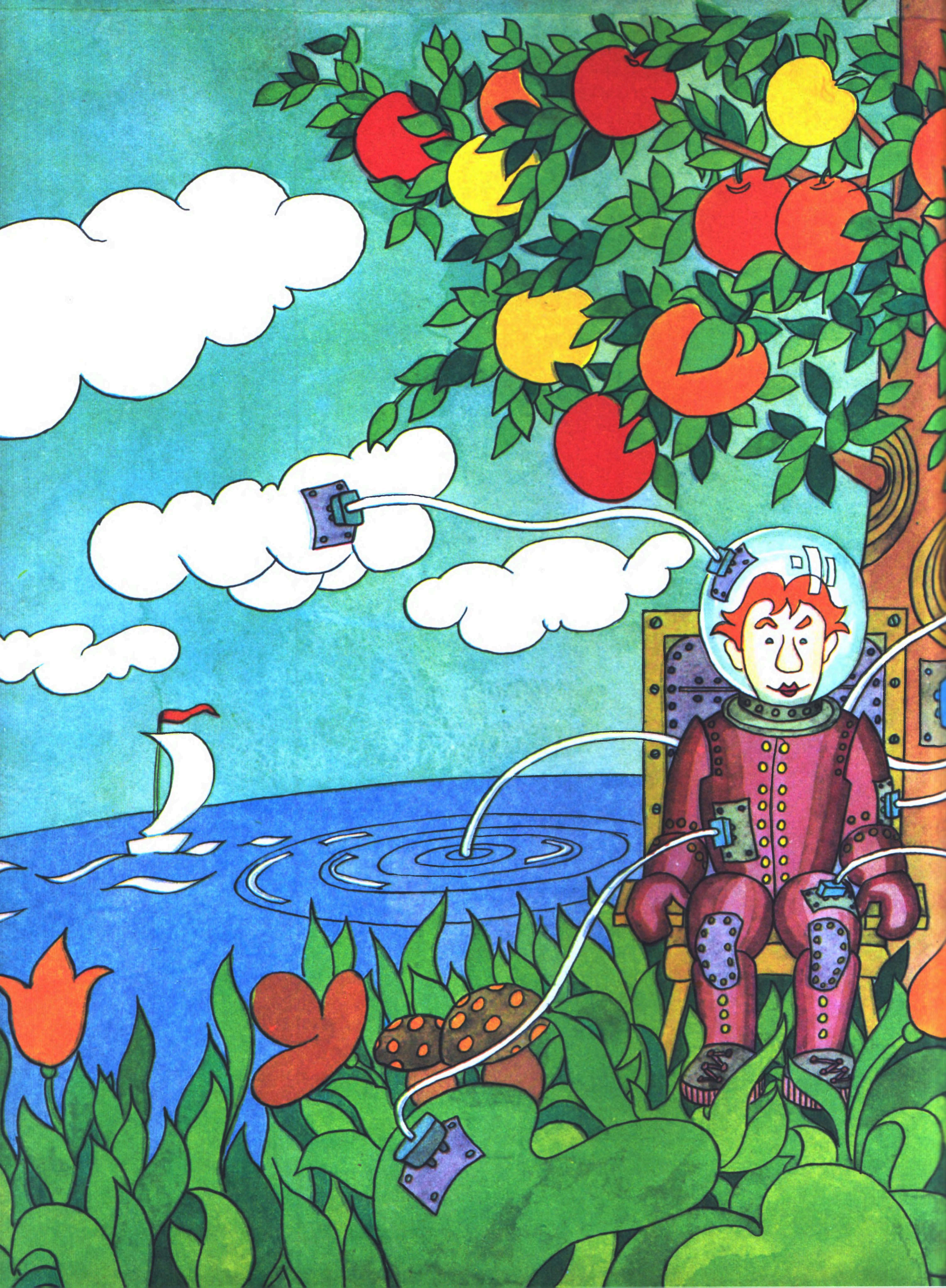
इस यांत्रिक "छछूंदर" में मज़बूत फ़ौलादी दांत, पक्की घूमती गर्दन और बारूद इंजन लगाये गये। परीक्षण के दौरान यह बहुत गहराई तक – सात किलोमीटर – चला गया था।

सो हो सकता है एक दिन किसी वैज्ञानिक कथा में नहीं, बल्कि अख़बार में हम यह समाचार पढ़ें कि भूगर्भयान में पृथ्वी के केन्द्र तक अभियान दल गया।











विद्युत मांसपेशियां

तुमने इस बात पर ध्यान दिया है कि हर अध्याय में हम बिजली को याद करते हैं? चाहे ताप ऊर्जा की बात हो रही हो, या परमाणु अथवा जल की ऊर्जा की, अंततः हम बिजलीघर की चर्चा ज़रूर करते हैं।

ताप ऊर्जा का एक तिहाई भाग लोग विद्युत ऊर्जा के उत्पादन में ख़र्च करते हैं। नदियों से हम जो ऊर्जा लेते हैं, वह सारी की सारी विद्युत ऊर्जा ही बन जाती है। नाभिकीय ऊर्जा भी हमें तभी चाहिए, जबकि वह विद्युत ऊर्जा में रूपांतरित हो।

विद्युत – ऊर्जा का सबसे "दक्ष" रूप है। यह सभी कुछ या प्रायः सभी कुछ कर सकती है।

हमारे युग के अलग-अलग नाम रखे गये हैं। कोई इसे नाभिकीय युग कहता है, कोई राकेट युग, तो कोई अंतरिक्ष युग। लेकिन सबसे अधिक सही नाम विद्युत युग ही है।

यह बात सिद्ध करने की कोई ज़रूरत नहीं है। अपने इर्द-गिर्द एक नज़र डालना ही काफ़ी है। हमारे घरों में बिजली का प्रकाश है, वैक्यूमक्लीनर, टेलीविज़न, रेडियो, इलेक्ट्रिक शेवर, लिफ़्टें, आदि हैं। सड़कों पर ट्रामें चलती हैं। बिजली की रेलगाड़ियां ज़मीन पर चलती हैं और ज़मीन के नीचे भी। बिजली से ही कारख़ानों में लगी अरबों मोटरें चलती हैं, कम्प्यूटर काम करते हैं। यदि सहसा बिजली न रहे, तो हमारा जीना ही दूभर हो जाये।

प्रकृति में बिजली उपयोगी रूप में नहीं मिलती। हां, बिजली कड़कती है। लेकिन इससे क्या। प्राकृतिक भंडार से हम तैयार बिजली नहीं पा सकते, जैसे कि कोयला, तेल या जल-ऊर्जा पाते हैं। विद्युत ऊर्जा की खोज करने, उसे मनुष्य की सेवा में लगाने का श्रेय मानव बुद्धि को ही है।

कहते हैं, बहुत पहले इटली में प्रोफ़ेसर लुईजी गैल्वनी अपने घर पर विद्यार्थियों की कक्षा ले रहे थे। अंगीठी के पास उनकी पत्नी मेंढक साफ़ कर रही थीं और उन्हें रांगे की तश्तरी में रख रही थीं। पति की बातें सुनते-सुनते उनके हाथ से चाकू छूट गया। वह मेंढक की टांग पर गिरा, जिसकी चमड़ी उतरी हुई थी; चाकू का दूसरा सिरा तश्तरी से छू गया। तभी टांग यों फड़फड़ाई, मानो मुर्दा मेंढक तश्तरी में से कूद जाना चाहता हो। श्रीमती गैल्वनी ने यह बात अपने पति को बताई। उन्होंने

यह प्रयोग कई बार दोहराया और इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि उन्होंने "जैव विद्युत" की खोज की है। गैल्वनी का ख़्याल था कि यह विद्युत शरीर में उत्पन्न होती है और मांसपेशियों व मस्तिष्क के काम का संचालन करती है।

लेकिन विलक्षण भौतिकविज्ञानी अलेस्सांद्रो वोल्टा ने ही इस रहस्य को ठीक-ठीक समझा। उन्हें "जैव विद्युत" में विश्वास नहीं था, वह यह मानते थे कि गैल्वनी के प्रयोगों में मेंढक कोई माने नहीं रखता। वोल्टा का कहना था कि बिजली तो दो भिन्न धातुओं – लोहे और रांगे – के सम्पर्क से पैदा हुई। मेंढक की टांग तो बस चालक थी। वैसे ही जैसे तांबे की तार। और नौ साल बाद उन्होंने यह बात सिद्ध कर दिखाई। उन्होंने तांबे और जस्ते की प्लेटों से विद्युत ऊर्जा का स्रोत – वोल्ट स्तम्भ – बनाकर दिखाया। और गैल्वनी के सम्मान में इसका नाम "गैल्वनी बैटरी" रखा।

अनेक वर्षों तक ये बैटरियां विद्युत के रहस्यों का अध्ययन करने में वैज्ञानिकों के काम आती रहीं। इनसे ही पहले विद्युत चुम्बकों को बिजली मिली। इनसे रूसी भौतिकविज्ञानी वसीली पेत्रोव ने बिजली का पहला लैम्प – वोल्ट चाप – जलाया।

लेकिन वोल्टा की बैटरियों की क्षमता बहुत कम थी। पर्याप्त विद्युतधारा पाने के लिए प्लेटों से बड़े-बड़े, भारी-भरकम खम्भे बनाये जाते थे, इसीलिए इन्हें स्तम्भ कहते थे।

पिछली सदी के आरम्भ में लंदन की एक जिल्दसाज़ी की दुकान पर चौदह साल का एक लड़का काम सीखने के लिए आया। ग़रीब लौहार के इस बेटे ने प्राथमिक शिक्षा भी नहीं पाई थी। लेकिन वह जिज्ञासु था और उसे पढ़ने का शौक़ था। लड़के का नाम था माइकल फ़ैराडे। एक बार 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रितानिका' (ब्रिटिश विश्वकोश) के मोटे खण्ड की जिल्द बांधते समय उसने उसमें विद्युत के बारे में लेख पढ़ा। विद्युत के चमत्कारी गुणों की कहानी से वह बहुत प्रभावित हुआ। लोहे की पुरानी चीज़ों और तारों के टुकड़ों से वह भांति-भांति के विद्युत उपकरण बनाने तथा उन पर प्रयोग करने लगा।

फ़ैराडे ने यह पता लगाया कि जिस तार में से विद्युत धारा जा रही होती है, उसके इर्द-गिर्द सदा चुम्बकीय क्षेत्र होता है। लोहे के चूरे से बने घेरे याद हैं न? बस वैसा ही। "विद्युत चुम्बकत्व में परिवर्तित होता है!" उन दिनों की वैज्ञानिक पत्रिकाओं में लिखा जाता था।

फ़ैराडे ने सोचा यदि विद्युत चुम्बकत्व में परिवर्तित होता है, तो इसके विपरीत क्यों न किया जाये? क्यों न चुम्बकत्व को विद्युत में परिवर्तित

 करने की कोशिश की जाये ? यह बात कभी भूले न , इसके लिए फ़ैराडे ने अपने कोट की जेब में दो चुम्बक रख लिये। फ़ैराडे ने सैकड़ों प्रयोग किये , दसियों उपकरण बनाये। अंततः नौ साल के परिश्रम के पश्चात १८३१ में एक वैज्ञानिक पत्रिका में एक चित्र छपा : दो चुम्बकों के बीच तांबे का पतला चक्र और पास ही चुम्बकीय सूई। जब चक्र घूमता है , तो चुम्बकीय सूई भी घूम जाती है। जब चक्र रुक जाता है तो सूई पहले वाली स्थिति में लौट आती है। फ़ैराडे ने इसकी यह व्याख्या दी कि चक्र के घूमने पर चुम्बक उसमें विद्युत धारा पैदा करते हैं। विद्युत धारा से "चुम्बकत्व" बनता है और सूई घूम जाती है। तुमने ध्यान दिया : "घूमने पर"? चक्र घूमता नहीं तो विद्युत धारा भी नहीं बनती । इसके बारे में अब हम यह कहते हैं : गति की **यांत्रिक** ऊर्जा **विद्युत ऊर्जा** में रूपांतरित हो जाती है।

फ़ैराडे के उपकरण का नाम **विद्युत यांत्रिक** जेनरेटर ही रखा गया , अर्थात ऐसा यंत्र जो यांत्रिक ऊर्जा से विद्युत ऊर्जा "बनाता" है। वैसे , सचमुच का जेनरेटर तो तीस साल बाद ही बनाया जा सका था। लेकिन फ़ैराडे के प्रयोगों से ही आधुनिक विद्युत ऊर्जा उत्पादन का मार्ग प्रशस्त हुआ। और आज प्रायः सारी विद्युत ऊर्जा विद्युत यांत्रिक जेनरेटरों से ही प्राप्त होती है। इनके नाम भले ही अलग-अलग हैं। यदि जेनरेटर भाप टर्बाइन से घूमता है , तो उसे टर्बोजेनरेटर कहते हैं। यदि जल टर्बाइन , तो हाइड्रोजेनरेटर कहते हैं। लेकिन नाम बदलने से असल बात नहीं बदलती। हां , आधुनिक जेनरेटरों में तांबे का चक्र नहीं होता जैसा फ़ैराडे के उपकरण में था। इनमें तो विद्युत ऊर्जा तांबे के तारों में उत्पन्न होती है , जो चुम्बकीय क्षेत्र में घूमते हैं।

फ़ैराडे की खोज के कुछ साल बाद १८३८ में रूसी वैज्ञानिक बोरीस याकोबी ने बिजली की पहली मोटर बनाई। बिजली की मोटर एक तरह से सारा काम उलटा करती है। यह विद्युत ऊर्जा को गति में परिवर्तित करती है। याकोबी ने यह मोटर नाव पर लगाई और "याकोबी की विद्युत नाव" का परीक्षण नेवा नदी पर किया। उन दिनों अख़बारों ने लिखा था : "...बारह लोगों से भरी नाव विद्युत यांत्रिक बल से बहाव के विपरीत और सामने से आती तेज़ हवा में कई घंटे तक चलती रही।"

इन दो खोजों के साथ ही विद्युत युग की शुरूआत मानी जा सकती है।

हर नई चीज़ की ही भांति बिजली को भी लोगों ने तुरन्त ही स्वीकार नहीं किया। १८७६ में जब पेरिस की सड़कों पर "रूसी रोशनी" – याब्लोच्कोव के बनाये बिजली के लैम्प – जल उठी , तभी लोगों को इसकी शक्ति में विश्वास हुआ।

पर यह विद्युत है क्या? पाठ्यपुस्तकों में लिखते हैं: विद्युत धारा इलेक्ट्रोनों का प्रवाह है। तुम्हें याद है न परमाणु कैसे बना होता है? केन्द्र में नाभिक होता है और उसके इर्द-गिर्द इलेक्ट्रोन मंडराते रहते हैं, मानो नाभिक के खूंटे पर बंधे हुए हों। पता चला है कि इलेक्ट्रोन इस "खूंटे" पर समान रूप से नहीं बंधे होते। कुछ "कसकर" बंधे होते हैं, और कुछ इतने "कसकर" नहीं। ये "ढीले बंधे" इलेक्ट्रोन ही धारा बनाते हैं। ये सहज ही अपना परमाणु छोड़कर घुमक्कड़ बन जाते हैं। धातुओं में ऐसे इलेक्ट्रोन विशेषतः अधिक होते हैं और उनमें वे बेतरतीब घूमते रहते हैं। कभी पराये घर – परमाणु – में घुस जाते हैं, कभी फिर घूमने लगते हैं। लेकिन इलेक्ट्रोनों की यह बेतरतीब गति धारा नहीं होती। विद्युत धारा तब बनती है, जब सभी मुक्त इलेक्ट्रोन एक ही दिशा में चलने लगते हैं। जैसे एकतरफ़ा यातायात वाली सड़क पर कारें। कारों को तो ड्राइवर चलाते हैं और विद्युत यांत्रिक जेनरेटर के तारों में इलेक्ट्रोनों को चलाते हैं चुम्बक। वे ही सभी इलेक्ट्रोनों को एक दिशा में गतिमान करते हैं।

विद्युत ऊर्जा तो लोगों के जीवन में सचमुच की क्रांति लाई।

फ़ैक्टरियों में भाप की मशीनों की ज़रूरत नहीं रही। उनका स्थान बिजली की मोटरों ने ले लिया। बिजली के तार ऊर्जा पहुंचाते हैं और मोटर उसे गति में परिवर्तित करती है। हां, परिवहन साधनों में यह बिजली की मोटर पेट्रोल के इंजन का स्थान नहीं ले पाई क्योंकि हवाई जवाज़ या कार तो अपने साथ बिजली के तार नहीं खींच सकते। पर यहां भी एक रास्ता खोज लिया गया। रेल लाइन के ऊपर और सड़कों के ऊपर बिजली के तार खिंच गये। विद्युत जेनरेटर से विद्युत धारा इन तारों में जाती है। ट्रेन, ट्राम या ट्रालीबस का चाप इन तारों पर चलते हुए इनसे बिजली पाकर इंजन तक पहुंचाता है और इंजन पहिये घुमाता है।

हमारे घरेलू जीवन में बिजली ने क्या कुछ किया है, यह बताने की तो ज़रूरत ही नहीं। तुम्हीं बताओ क्या तुम बिजली के लैम्प के बिना रह सकते? या टेलीविज़न, कपड़े धोने की मशीन, लिफ़्ट, टेलीफ़ोन के बिना? कहने की बात ही नहीं, इन सबके बिना जीवन बहुत कठिन होता और नीरस भी। न सिनेमा देख सकते, न रेडियो सुन सकते।

वैसे बात सिनेमा की ही नहीं है। बिजली तो हमारे उद्योगों के लिए सर्वप्रमुख ऊर्जा है।

बिजली पाने के लिए लोग तीन शृंखलाओं का उपयोग करते हैं।

सबसे प्रमुख शृंखला है – ईंधन शृंखला। आजकल इसकी मदद से नव्वे प्रतिशत बिजली

 पाई जाती है। दूसरे स्थान पर हैं पनबिजलीघर। इनसे लगभग पांच प्रतिशत बिजली प्राप्त होती है। अंतिम स्थान पर हैं परमाणु बिजलीघर।

लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि सदा ऐसे ही रहेगा। बीस-तीस साल बाद ही सब कुछ बदल जायेगा। परमाणु बिजलीघर आधी से अधिक बिजली देने लगेंगे। लोग ईंधन की बचत करेंगे, जो आज ही इतना अधिक नहीं रह गया है। और लगभग पचास वर्ष बाद तो ताप बिजलीघर विरले ही हो जायेंगे। जैसे कि आज भाप-इंजन हैं।

बिजलीघर से बिजली नदी की तरह बहती है। नदी की ही भांति इसका पाट होता है – बिजली का तार, और सचमुच की नदी की ही भांति अपना उद्गम स्थल – जेनरेटर। नदी की तरह बिजली भी ऊर्जायुक्त होती है और तरह-तरह की मशीनें – चक्की, घन, ख़रादें आदि – चलाती है। सचमुच की नदी हज़ारों छोटी-छोटी जल धाराओं से मिलकर बनती है, और बिजली का प्रवाह इसके विपरीत बड़ी, फिर उससे छोटी और फिर बिल्कुल छोटी नदियों में बंटता चला जाता है। पहले तो बिजलीघर से विद्युत प्रेषण लाइनों में सशक्त प्रवाह जाता है। ऊंचे-ऊंचे खम्भों पर लगी ये लाइनें तुमने नगरों के बाहर, खेतों और जंगलों में देखी होंगी। फिर सबस्टेशनों पर यह प्रवाह विभाजित होता है। इसका एक भाग नगर को जाता है, दूसरा गांवों को। नगर को गई धारा फिर नगर के इलाक़ों की धाराओं में बंटती है। इलाक़ों की धाराएं मिलों, कारख़ानों, सड़कों की धाराओं में। और इस तरह छोटे से छोटे टेबल लैम्प, टेलीविज़न और ख़राद पर लगी मोटर तक बिजली पहुंचती है। अपनी यात्रा के अंत में बिजली प्रकाश, पर्दे पर चित्र, बरमे की गति, हीटर की या विद्युत भट्ठी की गरमी में बदल जाती है।

बिजली हर लिहाज़ से अच्छी है। पर लोग उसकी कमियां भी जानते हैं। पहली बात उन्हें इसे पाने की विधि पसंद नहीं है। शृंखलाएं बहुत लंबी हैं। ख़ास तौर से वे जिनमें ऊष्मा बिजली में रूपांतरित होती है।

बिजली बनने से पहले ऊर्जा को कितनी बार अपना रूप बदलना होता है! पहले ईंधन जलता है और ऊष्मा निकलती है। फिर बायलरों में पानी उबालकर भाप बनाते हैं। भाप का दाब गति में बदलता है। और इसके बाद ही कहीं बिजली प्रकट होती है। सौ साल पहले भी और आज भी "शृंखला" जैसी की तैसी ही है। इस लंबे रास्ते में बहुत अधिक ऊर्जा व्यर्थ जाती है। और यह मानवजाति व प्रकृति के लिए बहुत महंगा पड़ता है। हर दूसरा टन ईंधन हम ख़ाली जलाने के लिए, "हवा को गरम करने" के लिए ही पाते हैं। ताप मशीनें इससे अधिक अच्छी तरह काम नहीं कर सकतीं। सो वैज्ञानिकों ने

सोचा कि इन मशीनों को शृंखला में से हटा देना चाहिए। ऊष्मा सीधे विद्युत ऊर्जा का रूप ले। और उन्होंने नई मशीनें बनाईं – चुम्बकीय हाइड्रोडायनेमिक जेनरेटर।

"हाइड्रो" का मतलब है "जल"। लेकिन वास्तव में इन जेनरेटरों में कोई पानी-वानी नहीं होता। इनमें होती है परितप्त गैस – प्लाज़्मा। हम जानते हैं कि यह विद्युत आवेशयुक्त कणों से बना होता है। इस गैस को चुम्बकों के बीच से गुज़ारा जाता है, जो कणों को "छांटते" हैं। धन (+) आवेश वाले कण एक ओर, ऋण (–) आवेश वाले कण दूसरी ओर। दो प्लेटों पर कण जमा होते जाते हैं। यदि इन प्लेटों को तार से जोड़ दिया जाये, तो उसमें विद्युत धारा बहने लगेगी। और आगे तो सब पता ही है। लेकिन यह कहना ही आसान है... असल में ऐसा कर पाना बहुत ही कठिन है। बड़ी मात्रा में गैस को प्लाज़्मा में बदलना कठिन है। इसके लिए उच्च तापमान और अत्यधिक ईंधन चाहिए। ऐसी गर्मी में मशीन के पुर्ज़ों को सही-सलामत रखना कठिन है। और भी बहुत सी कठिनाइयां हैं। इसलिए ऐसे बिजलीघर अभी बहुत कम हैं।

बिजली की दूसरी कमी उसे पाने से नहीं उसे प्रेषित करने से जुड़ी हुई है। आज जिन "नदियों" में बिजली की धारा बहती है, वे हैं – विद्युत प्रेषण लाइनें। और इनमें कई कमियां हैं। इनमें बहुत अधिक ऊर्जा व्यर्थ जाती है, ये लाइनें बहुत अधिक स्थान घेरती हैं, बहुत महंगी होती हैं और शहर की तंग सड़क की भांति इनसे अधिक प्रवाह जा भी नहीं सकता। आगे हमें अधिक ही अधिक ऊर्जा की आवश्यकता होगी, और उसके लिए ये लाइनें भी अधिक बनानी पड़ेंगी।

इंजीनियरों ने एक नया तरीक़ा सुझाया है। ऊर्जा को "जमाकर" प्रेषित किया जाये। पता चला है कि कुछ सामग्रियों को यदि अच्छी तरह जमा दिया जाये, तो वे ऊर्जा को व्यर्थ किये बिना ही एक स्थान से दूसरे पर पहुंचा देती हैं। पतले से जमे हुए तार में इतनी ही बिजली जा सकती है, जितनी अच्छे-ख़ासे लट्ठे की मोटाई के केबल में। तो इस तरह विद्युत लाइनों के भारी-भरकम जाल की ज़रूरत नहीं रहेगी, मूल्यवान तांबे की बचत होगी, उपभोक्ता को अधिक ऊर्जा प्राप्त होगी और खेती के लिए बहुत सा स्थान ख़ाली हो जायेगा।

द्रव हीलियम से तारों को जमाया जाता है। इसके लिए धातु के पाइप में तार खींचा जाता है और फिर उसमें हीलियम गैस भरी जाती है। बहुत मुमकिन है कि निकट भविष्य में बिजली की हवाई नदियों के स्थान पर भूमिगत नदियां बहने लगें।

तो लो हमारी किताब ख़त्म हो गई। हम यह क़बूल करते हैं कि सब बातें हम नहीं बता सके, और न ही ऐसा करने का हमारा इरादा था। बता इसलिए नहीं सके, कि किताब छोटी सी है। और इरादा इसलिए नहीं था कि इन जटिल बातों के बारे में बहुत सी गम्भीर वैज्ञानिक पुस्तकें लिखी गई हैं और लिखी जा रही हैं।

और यह पुस्तक तो लोगों के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण एक क्षेत्र से तुम्हारा पहला परिचय कराती है। इस क्षेत्र का नाम है **ऊर्जाविज्ञान।**



पाठकों से

रादुगा प्रकाशन इस पुस्तक की विषयवस्तु, अनुवाद और डिज़ाइन के बारे में आपके विचार जानकर आपका अनुगृहीत होगा। आपके अन्य सुझाव प्राप्त करके भी हमें बड़ी प्रसन्नता होगी।

कृपया हमें इस पते पर लिखिये :

रादुगा प्रकाशन,
१७, ज़ूबोव्स्की बुल्वार,
मास्को, सोवियत संघ।



